मनोरंजन पुस्तकमाला—३६

हिंदी निबंधमाला

दूसरा भाग

संग्रहकर्त्ता

श्यामसुंदरदास, बी॰ ए॰
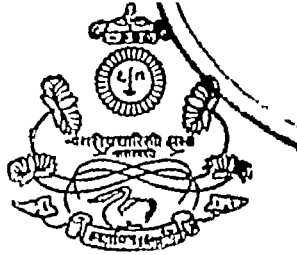
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

२५. वेदान्त

(खेतडी मे दिया हुआ भाषण ।)

बीसवीं दिसम्बर को स्वामीजी अपने शिष्यों के साथ जिस बंगले मे थे वहीं उन्होंने वेदान्त के सम्बन्ध में करीब डेढ़ घंटे तक सुन्दर वक्तृता दी। स्थानीय सभ्य सज्जन एवं कई यूरोपीय महिलायें उपस्थित थीं। खेतड़ी के राजाजी सभापति थे, उन्होंने ही उपस्थित श्रोताओं से स्वामीजी का परिचय कराया। दुःख का विषय है कि उस समय कोई सांकेतिक लेखक उपस्थित नहीं था। अतः समस्त वक्तृता उपलब्ध नहीं है। स्वामीजी के दो शिष्यों ने जो नोट लिए थे उसी का अनुवाद नीचे दिया जाता है —

यूनानी और आर्य — प्राचीन काल की ये दो जातियाँ — विभिन्न अवस्था-चक्रों में पड़ीं। प्रकृति में जो कुछ सुन्दर था, जो कुछ मधुर था, जो कुछ लोभनीय था उन्हीं के मध्य स्थापित होकर वीर्यप्रद जलवायु में विचरण कर प्रथमोक्त जाति ने एवं चारों ओर सब प्रकार महिमामय भावों के मध्य में अवस्थित होकर तथा अधिक शारीरिक परिश्रम के अनुकूल जलवायु न पाकर शेषोक्त जाति ने दो प्रकार की विभिन्न तथा विशिष्ट सभ्यता की सूचना दीं। ग्रीक लोग बाह्य-प्रकृति के अनन्त एवं आर्य लोग आभ्यन्तरिक प्रकृति के अनन्त की आलोचना में दत्तचित्त थे। ग्रीक लोग बृहत् ब्रह्माण्ड की आलोचना में व्यस्त थे और आर्य लोग क्षुद्र ब्रह्माण्ड के तत्वानुसन्धान में मग्न थे। संसार की सभ्यता में दोनों को ही अपना अपना निर्दिष्ट अंगविशेष प्रकट करना पड़ा था। यह नहीं कि इनमें से एक को दूसरे का ऋणी होना पड़ेगा; केवल परस्पर परिचित होकर पारस्परिक तुलना कर लेना ही पर्याप्त होगा। इससे दोनों ही का लाभ होगा। आर्यों की प्रकृति विश्लेषण प्रिय थी। गणित

और व्याकरण में आर्यों ने अद्भुत फल प्राप्त किये थे और मन के विश्लेषण में वे चरम सीमा को पहुँच गये थे। हमें पिथागोरस, सुकरात, प्लेटो एवं मिश्र के निओप्लेटोनिस्ट के विचारों में भारतीय विचार की झलक दीख पड़ती है।

इसके पश्चात् स्वामीजी ने यूरोप पर भारतीय विचारों के प्रभाव की विस्तृत आलोचना करके दिखाया कि विभिन्न समयों में स्पेन, जर्मनी एवं अन्यान्य यूरोपीय देशों के ऊपर इन विचारों की कैसी छाप पड़ी थी। भारतीय राजकुमार दाराशिकोह ने उपनिषद का अनुवाद फारसी में किया। शोपेनहार नामक जर्मन दार्शनिक उसका लैटिन अनुवाद देखकर उसकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए। उनके दर्शन में उपनिषदों का यथेष्ट प्रभाव देखा जाता है। इनके बाद ही कैन्ट के दर्शन-ग्रन्थों में भी उपनिषदों के भावों के चिह्न देखे जाते हैं। यूरोप में साधारणतः शब्द-विद्या (Philology) की चर्चा के ही लिए विद्वान् लोग संस्कृत का अभ्यास करते हैं। परन्तु अध्यापक डायसन जैसे व्यक्ति भी है जो केवल दार्शनिक ज्ञान के लिए ही दर्शनों का अध्ययन करते है। स्वामीजी को आशा थी कि भविष्य में यूरोप में संस्कृत के पठन-पाठन के लिए और अधिक उद्योग होगा। इसके बाद स्वामीजी ने दिखलाया कि पूर्वकाल में 'हिन्दू' शब्द सार्थक था और वह सिन्धु नदी के इस पार बसनेवालों के लिए प्रयुक्त होता था किन्तु इस समय वह सर्वथा निरर्थक है, कारण कि इस समय सिन्धु नदी के इस पार नाना धर्मावलम्बी बहुत सी जातियाँ बसती हैं। अतः इस शब्द द्वारा इस समय वर्तमान हिन्दू जाति या धर्म, किसी का भी ज्ञान नहीं होता।

उसके दर्शन में उपनिषद का यथेष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

इसके बाद स्वामीजी वेद के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से अपना मत प्रकट करने लगे। उन्होंने कहा, वेद किसी व्यक्तिविशेष के वाक्य नहीं हैं। वेद-निबद्ध भावराशि ने धीरे-धीरे विकसित होकर वर्तमान ग्रन्थाकार धारण किया है और अब वे प्रमाण हो गये हैं। स्वामीजी ने कहा, अनेक धर्म इसी

भाँति ग्रन्थ-बद्ध हुए हैं। ग्रन्थों का प्रभाव भी कुछ साधारण नहीं है। हिन्दुओं के ग्रन्थरत्न वेद हैं जिन पर अभी हजारों वर्षों तक हिन्दुओं को निर्भर रहना होगा। हमें वेदों के सम्बन्ध में अपने विचार बदलने होंगे। दृढ़ पर्वत-शिला जसी भित्ति के ऊपर वेद-विश्वास स्थापित करना होगा। वेद बृहत् ग्रंथ हैं, किन्तु वेदों का नब्बे प्रति शत अंश इस समय उपलब्ध नहीं है। विशेष विशेष परिवार में एक-एक वेदांश थे। उन परिवारों के लोप हो जाने से वे वेदांश भी लुप्त हो गये; किन्तु जो इस समय भी मिलते हैं वे भी एक बड़े कमरे में समा नहीं सकते। ये वेदराशि अत्यन्त प्राचीन हैं तथा अति सरल भाषा में लिखे हैं। वेदों का व्याकरण भी इतना अपरिणत है कि बहुतों के विचार में वेदों के कई अंशों का कोई अर्थ ही नहीं निकलता।

इसके बाद स्वामीजी ने वेद के दो भाग — कर्मकाण्ड और ज्ञान-काण्ड की आलोचना की। कर्मकाण्ड कहने से संहिता और ब्राह्मण का ज्ञान होता है। ब्राह्मणों में यज्ञ आदि का वर्णन है। संहिता अनुष्टुप, त्रिष्टुप, जगती प्रभृति छंदों में रचित स्तोत्रावली है। साधारणतः उनमें इन्द्र, वरुण अथवा अन्य किसी देवता की स्तुति है। इस पर प्रश्न यह उठा, ये देवता कौन थे? इनके सम्बन्ध में अनेक मत निर्धारित हुए किन्तु अन्यान्य मतों द्वारा वे मत खण्डित कर दिये गये। यह काम बहुत दिनों तक चलता रहा।

इसके बाद स्वामीजी उपासना-प्रणाली सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं की चर्चा करने लगे। बाबिलोनियाँ के प्राचीन निवासियों की आत्मा के सम्बन्ध में यह धारणा थी कि मनुष्य की मृत्यु होने पर उसकी एक देह बाहर निकल जाती है, वह स्वतन्त्र नहीं होती और वह देह मूल देह से अपना सम्बन्ध कदापि विच्छिन्न नहीं कर सकती। इस 'दूसरी' देह को भी मूल शरीर की भाँति क्षुधा, तृषा, मनोवृत्ति आदि के विकार होते हैं, ऐसा उनका विश्वास था; साथ ही यह भी विश्वास था कि मृत मूल शरीर पर किसी प्रकार का आघात करने से 'दूसरी' देह भी आहत होगी, मूल शरीर के नष्ट होने पर

'दूसरी' देह भी नष्ट हो जायेगी। इसलिए मृत शरीर की रक्षा करने की प्रथा आरम्भ हुई। इसीसे ममी (Mummies), समाधि-मन्दिर (Tomb), कब्र आदि की उत्पत्ति हुई। मिस्र और बाबिलोनियॉ निवासी एवं यहूदियों की विचार-धारा इससे अधिक अग्रसर न हो सकी, वे आत्मतत्व तक नहीं पहुॅच सके। प्रो. मैक्स मूलर का कहना है कि ऋग्वेद में पितृ-उपासना का सामान्य चिह्न भी नहीं दिखाई पड़ता। ममी तीक्ष्ण दृष्टि से हम लोगों की ओर देख रहे हैं, ऐसा बीभत्स और भयावह दृश्य भी वेदों में नहीं मिलता। देवता मनुष्यों के प्रति मित्रभाव रखते हैं। उपास्य और उपासक का सम्बन्ध सहज और स्वभाविक है। उनमें किसी प्रकार के दुःख का भाव नहीं है, उनमें सरल हास्य का अभाव नहीं है। स्वामीजी ने कहा, वेदों की चर्चा करते समय मानो मैं देवताओं की हास्य-ध्वनि स्पष्ट सुनता हूँ। वैदिक ऋषिगण अपने सम्पूर्ण भाव भाषा में भले ही न प्रकट कर सके हों किन्तु उनके हृदय भावों से परिपूर्ण थे। हम लोग उनकी तुलना में पशुतुल्य हैं।

इसके बाद स्वामीजी अनेक वैदिक मंत्र उच्चारण कर अपने वर्णित तत्वों का समर्थन करने लगे—"जिस स्थान पर पितृगण निवास करते हैं मुझे उसी स्थान पर ले जाओ—जहाँ कोई दुःख-शोक नहीं है" इत्यादि। इसी भॉति इस देश में इस धारणा का आविर्भाव हुआ कि जितना जल्दी शव जला दिया जायेगा, उतना ही अच्छा है। उनकी क्रमशः यह धारणा हो गई कि स्थूल देह के अतिरिक्त एक सूक्ष्म देह है, वह सूक्ष्म देह स्थूल देह के त्याग के पश्चात् एक ऐसे स्थान में पहुॅच जाती है जिस स्थान मे केवल आनन्द है, दुःख का तो नामोनिशान भी नहीं है। सेमेटिक (Semetic) धर्म में भय और कष्ट के भाव प्रचुर हैं। उनकी यह धारणा थी कि मनुष्य ईश्वर का दर्शन करने ही से मरेगा। किन्तु ऋग्वेद का भाव यह है कि ईश्वर के साक्षात्कार के पश्चात् ही मनुष्य का यथार्थ जीवन आरम्भ होगा।

प्रश्न यह उठा, ये देवता कौन थे? इन्द्र समय-समय पर मनुष्यों की

सहायता करते हैं। कभी-कभी वे अत्यधिक सोम का पान भी करते हैं; स्थान-स्थान पर उनके लिए सर्वशक्तिमान सर्वव्यापी प्रभृति विशेषणों का भी प्रयोग हुआ है। वरुणदेव के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार नाना धारणायें हैं। ये सब वर्णनात्मक मंत्र कहीं कहीं बहुत ही अपूर्व हैं। वेदों की भाषा बहुत ही महत्-भाव-द्योतक है। इसके पश्चात् स्वामीजी ने प्रलय वर्णनात्मक विख्यात नासदीय सूक्त की — जिसमें अन्धकार का अन्धकार से आवृत होना वर्णित है — आवृत्ति की, और कहा, जिन लोगों ने इन सब महान् भावों को इस प्रकार की कविता में वर्णन किया है यदि वे ही असभ्य होंगे तो फिर हम लोग क्या होंगे? इन ऋषियों की अथवा उनके देवता इन्द्र वरुण आदि की किसी प्रकार की समालोचना करने में मैं अक्षम हूँ। मानो क्रमागत दृश्य पर दृश्य बदलता चला आ रहा है और सब के पीछे 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' की यवनिका है। ज्ञानियों ने कई प्रकार से उसका वर्णन किया है और इन देवताओं का वर्णन बड़ा ही रहस्यमय, अपूर्व और अति सुन्दर है।

आगे चलकर स्वामीजी ने कहा, मुझे एक बात बहुत सम्भव और स्पष्ट मालूम होती है और वह यह है कि यूनानियों की भाँति आर्य लोग भी संसार की समस्या हल करने के लिए पहिले बाह्य प्रकृति की ओर गये थे — सुन्दर रमणीय बाह्य प्रकृति भी उन्हें प्रलोभित करके धीरे धीरे बाहर ले गई। किन्तु भारत का यही विशेषत्व है कि जिस वस्तु में कुछ महद्भाव-द्योतकता नहीं होती उसका यहाँ कुछ मूल्य ही नहीं होता। मृत्यु के पश्चात् क्या होता है, इसकी यथार्थ तत्व-निरूपणेच्छा साधारणतः यूनानियों के मन में उठी ही नहीं। किन्तु भारत में आरम्भ से ही यह प्रश्न बार बार पूछा जा रहा है — 'मैं कौन हूँ? मृत्यु के पश्चात् मेरी क्या अवस्था होगी?' यूनानियों के मत में मनुष्य मरकर स्वर्ग जाता है। स्वर्ग जाने का क्या अर्थ है? समुदय के बाहर जाना, भीतर नहीं — केवल बाहर — उनका लक्ष्य केवल बाहर की ओर था, केवल इतना ही नहीं, मानो वे स्वयं भी अपने से बाहर थे। और उन्होंने सोचा, जिस

समय वे एक ऐसे स्थान में जा पहुँचेंगे जो बहुत कुछ इसी संसार की भाँति है, किन्तु वहाँ इस संसार के दुःख-क्लेश का सर्वथा अभाव है तभी उन्हें ईप्सित सभी वस्तुएँ प्राप्त हो जायेंगी, और वे तृप्त हो जायेंगे। उनका धर्म इसके और ऊपर नहीं उठ सका। किन्तु हिन्दुओं का मन इतने से तृप्त नहीं हुआ। उनके विचार में स्वर्ग भी स्थूल जगत् के अन्तर्गत है। हिन्दुओं का मत है कि जो कुछ सयोगोत्पन्न है उसका विनाश अवश्यंभावी है। उन्होंने वाह्य प्रकृति से पूछा, 'आत्मा क्या है इसे क्या तुम जानती हो?' उत्तर मिला, 'नहीं।' प्रश्न हुआ, 'ईश्वर है क्या?' प्रकृति ने उत्तर दिया, 'मैं नहीं जानती।' तब वे प्रकृति के निकट से लौट आये और वे समझने लगे कि बाह्य प्रकृति कितनी ही महान् क्यों न हो, वह देश-काल की सीमा से आबद्ध है। तब उन्हें एक और शब्द कर्णगोचर हुआ — नये महान् भावों की धारणा उनमें उदय होने लगी। वे शब्द थे 'नेति, नेति'—'यह नहीं, यह नहीं'— उस समय विभिन्न देवगण एक हो गये, सूर्य, चन्द्र, तारा, इतना ही क्या, समग्र ब्रह्माण्ड एक हो गया — उस समय धर्म के इस नूतन आदर्श पर उनकी आध्यात्मिक भित्ति प्रतिष्ठित हुई।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं।
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

'वहाँ सूर्य भी प्रकाशित नहीं होता, न चन्द्र, न तारा, न विद्युत, फिर अग्नि का तो कहना ही क्या! उसी के प्रकाशमान होने से ही सब कुछ प्रकाशित होता है, उसी के प्रकाश से ही सब चीज़ें प्रकाशित हैं।' उस सीमाबद्ध, अपरिणत, व्यक्तिविशेष, सब के पाप-पुण्यों का विचार करनेवाले क्षुद्र ईश्वर की धारणा बाकी नहीं रही, अब बाहर का अन्वेषण बाकी नहीं बचा, अपने भीतर अन्वेषण आरम्भ हुआ।

छायातपो ब्रह्मविदो वदन्ति । *

इस भाँति उपनिषद् भारत के बाइबिल (Bible) हो गए, और भारत में जो विभिन्न मतवाद प्रचलित हैं, सभी उपनिषद् की भित्ति पर प्रतिष्ठित हैं।

इसके बाद स्वामीजी द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत मतों का वर्णन करके उनके सिद्धान्तों का निम्नोक्त कथन से समन्वय करने लगे। उन्होंने कहा, इनमे प्रत्येक मानो सोपान-स्वरूप है — एक सोपान पर चढ़ने के बाद परवर्ती सोपान पर चढ़ना होता है, सब के अन्त मे अद्वैतवाद की स्वाभाविक परिणति है और यह अन्तिम बात है 'तत्त्वमसि'। प्राचीन भाष्यकार शंकराचार्य, रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य आदि भी उपनिषद् को ही एकमात्र प्रमाण मानते थे, तथापि सभी इस भ्रम में पड़े थे कि उपनिषद् एक ही मत की शिक्षा देते हैं। शंकराचार्य इस भ्रम में पड़े थे कि सब उपनिषदों में केवल अद्वैतवाद की शिक्षा है, दूसरा कुछ है ही नहीं। इसलिए, जिस स्थान पर स्पष्ट द्वैत भावात्मक श्लोक मिलते थे, उन्होंने अपने मत की पुष्टि के लिए खींचतान कर उनका विकृत अर्थ किया। रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य ने भी शुद्ध अद्वैतभाव-प्रतिपादक वेदांशों की द्वैत व्याख्या करके वैसी ही भूल की है। यह सर्वथा सत्य है कि उपनिषद् एक तत्व की शिक्षा देते हैं किन्तु इस तत्व मे सोपानारोहण की भाँति शिक्षा दी गई है। इसके बाद स्वामीजी ने कहा, वर्तमान भारत मे धर्म का मूल तत्व अन्तर्हित हो गया है, सिर्फ थोड़े बाह्य अनुष्ठान मात्र शेष बचे हैं। भारतवासी इस समय न तो हिन्दू ही हैं और न वैदान्तिक ही। वे केवल छुआछूत मत के पोषक हैं। रसोई-घर ही उनके मन्दिर हैं और रसोई के बर्तन ही उनके देवता हैं। इस भाव को छोड़ना होगा और जितना शीघ्र यह भाव छोड़ा जायेगा, उतना ही हमारे

---

* कठोपनिषद्, १–३–१

धर्म के लिए अच्छा है। उपनिषद अपनी महिमा में उद्भासित हों और विभिन्न सम्प्रदायों मे विवाद की इति भी हो जाय।

* * * *

स्वामीजी का शरीर स्वस्थ न होने से इतना ही बोलकर वे थक गये।

२६. इङ्गलैण्ड में भारतीय आध्यात्मिक विचारों का प्रभाव

[११ वीं मार्च सन १८९८ ई० को स्वामीजी की शिष्या सिस्टर निवेदिता (मिस एम० ई० नोबल) ने कलकत्ते के स्टार थियेटर में "इग्लैण्ड में भारतीय आध्यात्मिक विचारों का प्रभाव" नामक विषय पर एक व्याख्यान दिया था। सभापति का आसन स्वयं स्वामीजी ने ही ग्रहण किया था। स्वामीजी ने उठकर पहले सर्वसाधारण के आगे उक्त महिला का परिचय देते हुए नीचे लिखी बातें कही थीं।]

सम्मान्य महिलाओ और भद्रमहोदयो!

मैं जिस समय एशिया के पूर्वीय हिस्से में भ्रमण कर रहा था, उस समय एक विषय की ओर मेरी दृष्टि विशेष रूप से आकृष्ट हुई थी। मैंने देखा कि उन स्थानों में भारतीय आध्यात्मिक विचारों का प्रवेश यथेष्ट रूप से हुआ है। चीन और जापान के कितने ही मन्दिरों की दीवारों और चहार-दीवारियों के ऊपर कई सुपरिचित संस्कृत मन्त्रों को खुदा हुआ देखकर मैं कितना विस्मित हुआ था, यह आप लोग आसानी से समझ सकते हैं। और यह सुनकर शायद आप लोगों को और भी आश्चर्य होगा, और कुछ लोगों को सम्भवतः प्रसन्नता भी होगी कि वे सब मन्त्र पुरानी बँगला लिपि में लिखे हुए हैं। हमारे बंगाल के पूर्वपुरुषों का धर्मप्रचार-कार्य में कितना उत्साह था, मानो यही बताने के लिए आज भी वे मन्त्र उन पर खुदे हुए मौजूद हैं।

पूर्व एशिया में भारतीय धर्म का प्रभाव।

भारतीय आध्यात्मिक विचारों की पहुँच एशिया महाद्वीप के इन देशों

तक ही हुई है, ऐसा नहीं, वरन् वे बहुत दूर तक फैले हुए हैं। यहाँ तक कि पाश्चात्य देशों में भी कितने ही स्थानों के आचार-व्यवहार के भीतर घुसकर उसके मर्म-स्थल में मैंने उसके प्रभाव-चिह्न देख पाये हैं। भारत के आध्यात्मिक विचार भारत के पूर्व और पश्चिम दोनों ही ओर फैले हुए थे। यह बात अब ऐतिहासिक सत्य प्रमाणित हो चुकी है। सारा संसार भारत के अध्यात्म-तत्व के लिये कहाँ तक ऋणी है तथा यहाँ की आध्यात्मिक शक्ति ने मानवजाति को जीवन संगठन के कार्य में प्राचीन अथवा अर्वाचीन समय में कितनी बड़ी सहायता पहुँचाई है, यह बात अब सब लोग जान गए हैं। यह सब तो पुरानी बातें हैं।

पाश्चात्य देशों में भारतीय आध्यात्मिक चिन्ता का प्रभाव।

मैं संसार में एक और विचित्र बात देखता हूँ। वह यही कि उस अजीब ढंगवाली ऐङ्गलो-सैक्सन जाति ने सामाजिक उन्नति, सभ्यता तथा मनुष्यत्व की विकासरूपी अत्यद्भुत शक्ति का विकास किया है। इतना ही नहीं, कुछ और आगे बढ़कर हम यह भी कह सकते हैं कि हम लोग आज यहाँ पर "भारतीय आध्यात्मिक विचारों का प्रभाव" के विषय में आलोचना करने के लिए जिस तरह से सभा करके एकत्र हुए हैं, यदि उस ऐङ्गलो-सैक्सन जाति की शक्ति का प्रभाव इतना विस्तारित नहीं हुआ होता, तो हम शायद इस तरह इकट्ठे भी नहीं होते। फिर पाश्चात्य से प्राच्य को—अपने स्वदेश को—लौटकर हम देख पाते हैं कि वही ऐङ्गलो-सैक्सन शक्ति अपने अन्दर कितने ही दोषों के भरे रहने पर भी अपने कुछ थोड़े से गुणों को लेकर यहाँ अपना कार्य बड़ी खूबी के साथ कर रही है। और मेरा विश्वास है कि इतने दिनों बाद अब इन दोनों जातियों के मिलने का महान् परिणाम सिद्ध हुआ है। ब्रिटिश जाति का विस्तार और उसकी उन्नति का भाव हमें बलपूर्वक उन्नति की ओर अग्रसर करा रहा है।

प्राच्य और पाश्चात्य के सम्मिलन का फल।

साथ ही, हमें यह भी याद रखना चाहिए कि पाश्चात्य सभ्यता ग्रीक लोगों से प्राप्त हुई है और ग्रीक सभ्यता का प्रधान भाव है—प्रकाश या विस्तार। हम भारतवासी मननशील तो हैं, परन्तु कभी कभी हम इतने मननशील हो जाते हैं कि हममें भाव-प्रकाश करने की शक्ति बिल्कुल नहीं रह जाती। मतलब यह कि संसार के आगे भारतवासियों की भाव-प्रकाश करने की शक्ति अप्रकाशित ही रह गई और उसका फल क्या हुआ? फल यही हुआ कि हमारे पास जो कुछ था, सबको हम गुप्त रखने की चेष्टा करने लगे। भाव गुप्त रखने का यह सिलसिला आरम्भ तो हुआ व्यक्ति-विशेष की ओर से, पर क्रमशः बढ़ता हुआ यह जातीय अभ्यास के रूप मे आ पहुँचा। और आज भाव-प्रकाश करने की शक्ति का हममें इतना अभाव हो गया है कि हमारी जाति एक मरी हुई जाति समझी जाने लगी है। ऐसी अवस्था में भाव प्रकाश किये बिना हमारी जाति के जीवित रहने की सम्भावना कहाँ है? पाश्चात्य सभ्यता का मेरुदण्ड है विस्तार और भावों को अभिव्यक्त करना। भारतवर्ष में ऐङ्गलो-सैक्सन जाति के कामों में से जिस कार्य की ओर मैंने आप लोगों का ध्यान आकृष्ट करना चाहा है, वही हमारी जाति को जगाकर फिर भी हमें अपने भावों को व्यक्त करने के लिए तैयार करेगा। और आज भी यही ऐङ्गलो सैक्सन जाति अपने भाव-विनिमय के उपयोगी साधनों की सहायता से हमें ससार के आगे अपने गुप्त रत्नों को प्रकट करने के लिए उत्साहित कर रही है। ऐङ्गलो-सैक्सन जाति ने भारतवर्ष की भावी उन्नति का रास्ता खोल दिया है और हमारे पूर्वपुरुषों के भाव अब जिस तरह धीरे-धीरे बहुतेरे स्थानों में फैलते जा रहे हैं, यह वास्तव में बड़े आश्चर्य की बात है। जब हमारे पूर्वपुरुषों ने पहले पहले अपनी मुक्ति की बात की घोषणा की थी, तब उन्हें कितना सुभीता था? भगवान बुद्ध ने किस तरह सार्वजनीन भ्रातृभाव के महान् तत्व का प्रचार किया था?

भारत जगकर समग्र संसार को अपनी आध्यात्म विद्या देने को अग्रसर हुआ है।

उस समय भी यहाँ पर — इसी भारतवर्ष में, जिसे हम प्राणों से अधिक प्यार करते हैं — वास्तविक आनन्द प्राप्त करने के यथेष्ट सुभीते थे और हम बहुत ही सुगमता के साथ पृथ्वी के एक हिस्से से दूसरे हिस्से तक अपने भावों और विचारों को व्यक्त कर सकते थे, परन्तु अब हम उससे और भी आगे बढ़कर ऐङ्गलो-सैक्सन जाति तक अपने भावों का प्रचार करने में कृतकार्य हो रहे हैं।

इसी तरह क्रिया-प्रतिक्रिया इस समय चल रही है और हम देख रहे हैं कि हमारे देश से प्रेरित वाणी को वहाँवाले सुनते हैं, और केवल सुनते ही नहीं हैं, बल्कि उसका जवाब भी देते हैं। इसी बीच में इङ्गलैण्ड ने अपने कई महामना व्यक्तियों को हमारे काम में सहायता पहुँचाने के लिए भेज दिया है। आप लोगों ने शायद मेरी परम मित्र मिस मुलर की बात सुनी है और सम्भव है आप लोगों में से बहुतों का उनके साथ परिचय भी हो — वे इस समय इसी व्याख्यान-मञ्च पर उपस्थित हैं। इन उच्च वंशसम्भूता सुशिक्षिता महिला ने भारत के प्रति अगाध प्रेम होने के कारण अपना समग्र जीवन भारत के कल्याण के लिए न्यौछावर कर दिया है और उन्होंने भारत को अपना घर तथा भारतवासियों को ही अपना परिवार बना लिया है। आप सभी उन सुप्रसिद्ध उदारहृदया अंग्रेज महिला के नाम से भी परिचित हैं — उन्होंने भी अपना सारा जीवन भारत के कल्याण तथा पुनरुत्थान के लिए अर्पण कर दिया है। मैं यह बात मिसेज़ बेसेण्ट को लक्ष्य करके कह रहा हूँ। प्यारे भाइयो, आज इस मञ्च पर दो अमेरिकन महिलाएँ उपस्थित हैं — ये भी अपने हृदय में वैसे ही उद्देश्य धारण करती हैं; और मैं आप लोगों से निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि ये भी हमारे इस गरीब देश के कल्याण के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग करने को तैयार हैं। इस अवसर पर मैं आप लोगों

पाश्चात्य देश इसके प्रतिदान-स्वरूप तद्देशीय सुशिक्षित, भारत के सहाय्यार्थ भेज रहे हैं।

के आगे अपने एक स्वदेशवासी का नाम याद दिलाना चाहता हूँ। इन्होंने इङ्गलैण्ड और अमेरिका आदि देशों को देखा है, उनके ऊपर मेरा बड़ा विश्वास और भरोसा है, इन्हें मै विशेष श्रद्धा और प्रेम की दृष्टि से देखता हूँ, आध्यात्मिक राज्य में ये बहुत आगे बढ़े हुए हैं तथा महामना व्यक्ति हैं, ये बड़ी दृढ़ता के साथ परन्तु बिना शोर-गुल किए हमारे देश के कल्याण के लिए कार्य कर रहे हैं, आज यदि उन्हे किसी और जगह कोई विशेष काम न होता, तो वे अवश्य ही इसी सभा में उपस्थित होते —यहाँ पर मेरा मतलब श्रीयुत मोहिनी मोहन चट्टोपाध्याय से है। इन लोगों के अतिरिक्त अब इङ्गलैण्ड ने मिस मार्गरेट नोबल को उपहार-स्वरूप भेजा है —इनसे हम बहुत कुछ आशा रखते हैं। बस और अधिक बातें न कर मैं आपके साथ मिस मार्गरेट नोबल का परिचय करा देता हूँ। आप लोग अब इनकी वक्तृता सुनेंगे।

इसके बाद सिस्टर निवेदिता ने अपनी बड़ी मर्मस्पर्शिनी तथा सार-गर्भ वक्तृता दी। उनकी वक्तृता समाप्त होने पर स्वामीजी फिर खड़े हुए और बोले:—

मैं अब केवल दो-चार बातें और आपसे कहना चाहता हूँ। अभी अभी हमे यह मालूम हुआ कि हम भारतवासी भी कुछ काम कर सकते हैं। भारतवासियों मे हम बंगाली लोग भले ही इस बात को हँसी में उड़ा दे सकते हैं, पर मैं वैसा नहीं करता। आप लोगों के अन्दर एक अदम्य उत्साह, एक अदम्य चेष्टा जाग्रत कर देना ही हमारा जीवनव्रत है। तुम अद्वैतवादी हो, विशिष्टाद्वैतवादी हो अथवा तुम द्वैतवादी ही क्यों न हो, इससे कुछ आता-जाता नहीं। परन्तु एक बात की ओर जिसे दुर्भाग्यवश हम लोग हमेशा भूल जाया करते हैं, इस समय मैं आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। वह यही कि "हे मानव! अपने आप पर विश्वास रखो।" केवल इसी एक उपाय से हम ईश्वर के विश्वास-परायण बन सकते हैं। तुम चाहे अद्वैतवादी हो या

आत्मविश्वास-सम्पन्न होओ।

द्वैतवादी, तुम्हारा विश्वास चाहे योगशास्त्र पर हो या शंकराचार्य पर, चाहे तुम व्यासजी के अनुयायी हो या विश्वामित्र के, इससे कुछ आता-जाता नहीं है, लेकिन ज़रा गौर से देखने या जानने की बात यह है कि पूर्वोक्त "आत्म-विश्वास" के विषय में भारतवासियों के विचार संसार की अन्य सभी जातियों के विचारों से निराले हैं। पल भर के लिए ज़रा सोचकर देखिये तो सही— अन्यान्य सभी धर्मों और देशों में आत्मा की शक्ति को लोग स्वीकार नहीं करते—वे आत्मा को शक्तिहीन, दुर्बल, मृतवत्, निश्चेष्ट और जड़ वस्तु की तरह समझते हैं; पर भारतवर्ष में हम लोग आत्मा को अनन्त शक्ति-सम्पन्न समझते हैं, और हमारी धारणा है कि आत्मा अनन्त काल तक पूर्ण ही रहेगी। हमें सदा उपनिषदों में दिये गये उपदेशों को स्मरण रखना चाहिए।

पाश्चात्य का अनुकरण त्याग कर प्राच्य और पाश्चात्य के भावों का आदान-प्रदान करना होगा।

आप लोग अपने जीवन के महान् व्रत को याद करें। हम भारतवासी और विशेषतः हम बंगाली बहुत परिमाण में विदेशी भावापन्न हो गये है — हमारा यही भाव हमारे जातीय धर्म की हड्डी-गुड्डी चूसे डालता है। हम आज इतने पिछड़े हुए क्यों हैं? क्यों हममें से निन्नानबे फी सदी आदमी सम्पूर्णतः पाश्चात्य भावों और उपादानों से गठित हो रहे हैं? अगर हम लोग जातीय गौरव के उच्च शिखर पर आरोहण करना चाहते हैं, तो हमें इस विदेशी भाव को दूर फेंक देना होगा, साथ ही यदि हम ऊपर चढ़ना चाहते हैं तो हमें यह भी याद रखना होगा कि हमें पाश्चात्य देशों से बहुत कुछ सीखना बाकी है। पाश्चात्य देशों से हमें उनका शिल्प और विज्ञान सीखना होगा, उनके यहाँ की भौतिक-प्रकृति-सम्बन्धी विद्याएँ सीखनी होंगी और उधर पाश्चात्य देशवासियों को हमारे पास आकर धर्म और आध्यात्म-विद्या की शिक्षा ग्रहण करनी होगी। हम हिन्दुओं को विश्वास करना होगा कि हम ही संसार के आचार्य हैं। हम यहाँ पर राजनीतिक अधिकार तथा इसी प्रकार

की अन्यान्य बातों के लिए चिल्ला रहे हैं। अच्छी बात है, परन्तु अधिकार और सुभीते केवल मित्रता के द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं और मित्रता की आशा वहीं की जाती है, जहाँ दोनों पक्ष समान होते हैं। यदि एक पक्ष-वाला जीवन भर भीख ही माँगता रहे, तो क्या यहाँ पर मित्रता स्थापित हो हो सकती है? ये सब बातें जबानी कह देना बहुत आसान है, पर मेरा कहना यह है कि पारस्परिक सहायता के बिना हम लोग कभी शक्तिसम्पन्न नहीं हो सकते। इसीलिए मैं आप लोगों को, भिखमंगों की तरह नहीं, धर्माचार्य के रूप में इङ्गलैण्ड और अमेरिका आदि देशों में जाने के लिए कह रहा हूँ। हमें अपने कार्यक्षेत्र में यथासम्भव विनिमय विधि का प्रयोग करना होगा। यदि हमें उनके पास से इस लोक में सुखी रहने के उपाय सीखने हैं, तो हम भी उसके बदले में क्यों न उन्हें अनन्त काल तक सुखी रहने के उपाय बतायें?

सर्वोपरि, समग्र मानव-जाति के कल्याण के लिए हित-कार्य करते रहो। तुम एक संकीर्ण घेरे के अन्दर बँधे रहकर अपने को 'शुद्ध' हिन्दू समझने का जो गर्व करते हो, उसे छोड़ दो। मृत्यु सब के लिए राह देख रही है, इसे कभी मत भूलो; और साथ ही उस ऐतिहासिक सत्य पर भी विशेष ध्यान रखो कि संसार की सब जातियों को भारतीय-साहित्य-निबद्ध सनातन सत्य-समूह को सीखने के लिए धैर्य धारण कर भारत के पैरों तले बैठना पड़ा है। भारत का विनाश नहीं है, चीन का भी नहीं और जापान का भी नहीं, अतएव हमें अपने धर्मरूपी मेरुदण्ड की बात को सदा-सर्वदा स्मरण रखना होगा। और ऐसा करने के लिए, हमें वह रास्ता बनाने के लिए एक पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता है — जिस रास्ते के विषय में मैं अभी तुम लोगों से कह रहा था। यदि तुम लोगों में कोई ऐसा व्यक्ति हो जो यह विश्वास न करता हो, यदि हमारे यहाँ कोई ऐसा हिन्दू बालक हो जो यह विश्वास न करता हो कि हमारा धर्म सम्पूर्ण रूप से आध्यात्मिक-भावापन्न है

समग्र संसार को धर्मशिक्षा देनी होगी।

तो मैं उसे हिन्दू मानने को तैयार नहीं हूँ। मुझे याद है, एक बार काश्मीर-राज्य के किसी गाँव में मैंने एक बूढ़ी औरत से पूछा था कि 'आप किस धर्म को मानती हैं?' इस पर वृद्धा ने बड़े गर्व के साथ जवाब दिया था कि 'ईश्वर को धन्यवाद, उनकी कृपा से मैं मुसलमानिन हूँ।' इसके बाद किसी हिन्दू से भी यही प्रश्न पूछा, तो उसने ढीली आवाज़ में कह दिया, 'मैं हिन्दू हूँ।'

कठोपनिषद का वह महावाक्य स्मरण आता है—'श्रद्धा' या अद्भुत विश्वास। नचिकेता के जीवन में 'श्रद्धा' या यथार्थ 'विश्वास-तत्व' का एक सुंदर दृष्टान्त दिखाई देता है। इस श्रद्धा का प्रचार करना ही मेरा जीवनोद्देश्य है। मै आप लोगों से फिर एक बार कहना चाहता हूँ कि यह श्रद्धा ही मानव-जाति के जीवन का और संसार के सब धर्मों का प्रधान अंग है। सब से पहले अपने आप पर विश्वास करने का अभ्यास करो। यह जान लो कि कोई आदमी छोटे से जल बुद्बुद् के बराबर हो सकता है और कोई पहाड़ों की तरह बड़ा। पर उस छोटे जल-बुद्बुद् और बड़े भारी पहाड़, दोनों के ही पीछे अनन्त समुद्र है। अतएव आशा सब में है, सब के लिए मुक्ति का रास्ता खुला हुआ है और सभी जल्दी या देरी से माया के बन्धन से मुक्त होंगे। यही हमारा सबसे पहला कर्तव्य है। अनन्त आशा से ही अनन्त आकांक्षा और चेष्टा की उत्पत्ति होती है। यदि यह विश्वास हमारे अन्दर बैठ जाय, तो वह हमारे जातीय जीवन में व्यास और अर्जुन का समय—वह समय, जब कि हमारे यहाँ से समग्र मानव-जाति के लिए कल्याणकर मतवाद प्रचारित हुआ था—ले आयेगा। आज हम लोग अन्तर्दृष्टि और आध्यात्मिक विषयों में बहुत ही पिछड़ गये हैं, परन्तु अब भी भारत में यथेष्ट परिमाण में आध्यात्मिकता विद्यमान है, इतने अधिक परिमाण में है कि आज भारत की आध्यात्मिकता ही उसे सारे संसार की जातियों के आगे श्रेष्ठ बनाए हुई है। और यदि लोगों की आशा पर विश्वास किया जाय,

नचिकेता की तरह श्रद्धा-सम्पन्न होओ।

तो हमारा वह दिन फिर लौट आएगा, और वह आप लोगों के ऊपर ही निर्भर करता है। ऐ बंगाली नवयुवको ! तुम लोग धनी-मानियों और बड़े आदमी का मुँह ताकना छोड़ दो। याद रखो, संसार मे जितने भी बड़े बड़े और महान् कार्य हुए हैं उन्हें छोटे आदमियों ने ही किया है। इसलिए ऐ गरीब बंगालियो ! उठो और काम में लग जाओ, तुम लोग सब काम कर सकते हो और तुम्हें सब काम करने पड़ेंगे। यद्यपि तुम गरीब हो, तथापि बहुत लोग तुम्हारा पदानुसरण करेंगे। दृढ़चित्त बनो और इससे भी बढ़कर पूर्ण पवित्र और कपटशून्य बनो; विश्वास रखो कि तुम्हारा भविष्य अत्यन्त गौरवपूर्ण है। ऐ बंगाली नवयुवको! तुम लोगों के द्वारा ही भारत का उद्धार होनेवाला है। तुम इस पर विश्वास करो या न करो, पर तुम इस बात पर विशेष रूप से ध्यान रखना। ऐसा मत समझना कि यह काम आज या कल ही पूरा हो जायेगा। मुझे अपनी देह और अपनी आत्मा के अस्तित्व पर जैसा दृढ विश्वास है, इस पर भी मेरा वैसा ही अटल विश्वास है। इसीलिए, ऐ बंगीय नवयुवको ! तुम्हारे प्रति मेरा हृदय इतना आकृष्ट है। जिनके पास धन-दौलत नहीं है, जो गरीब हैं, केवल उन्हीं लोगों का भरोसा है, और चूँकि तुम गरीब हो, इसलिए तुम्हारे द्वारा यह कार्य होगा। चूँकि तुम्हारे पास कुछ नहीं है, इसीलिए तुम कपटता से शून्य हो सकते हो, और अकपट होने के कारण ही तुम सब कुछ त्याग करने के लिए तैयार हो सकते हो। बस, केवल यही बात मैं तुमसे अभी अभी कह रहा था। और फिर भी तुम्हारे पास मैं इसी बात की चर्चा करता हूँ — यही तुम लोगों का जीवन-व्रत है और यही मेरा भी जीवन-व्रत है। तुम चाहे किसी भी दार्शनिक मत का अवलम्बन क्यों न करो, उससे कुछ आता-जाता नहीं है। मैं यहाँ पर केवल यही प्रमाणित करना चाहता हूँ कि सारे भारतवर्ष मे, सारी मानव-जाति की पूर्णता में अनन्त विश्वासरूप प्रेम-सूत्र ओतप्रोत भाव से विद्यमान है — यही मेरा विश्वास है, और मैं चाहता हूँ कि इस विश्वास का सारे भारत में प्रचार हो।

---

२७. संन्यासी का आदर्श तथा तत्प्राप्ति का साधन

(१९ जून सन् १८९९ को जब स्वामीजी दूसरी बार पाश्चात्य देशों को जाने लगे उस अवसर पर बेलुड मठ के युवा सन्यासियो ने उन्हें एक सम्मानपत्र दिया। उसके उत्तर में स्वामीजी ने जो कहा था, उसका साराश निम्नलिखित है।)

आज एक लम्बे भाषण का समय नहीं है परन्तु संक्षेप मे मैं कुछ उन बातों की चर्चा करूँगा जो तुम्हें अभ्यास में लानी चाहिए। पहले हमें अपने ध्येय को भलीभाँति समझ लेना चाहिए और फिर उन साधनों को भी जानना चाहिए जिनके द्वारा हम उसको प्राप्त करने का अभ्यास कर सकते हैं। तुम लोगों मे से जो संन्यासी हैं उन्हें सदैव दूसरों के प्रति भलाई करते रहने का यत्न करना चाहिए, क्योंकि सन्यास का अर्थ ही वह है। इस समय 'त्याग' पर भी एक लम्बा भाषण देने का अवसर नहीं है, परन्तु संक्षेप में मैं इसकी परिभाषा इस प्रकार करूँगा : 'त्याग' का अर्थ है "मृत्यु के प्रति प्रेम"। सांसारिक लोग जीवन से प्रेम करते हैं, परन्तु संन्यासी के लिए प्रेम करने को मृत्यु है। तो प्रश्न यह उठता है कि क्या फिर हम आत्महत्या कर ले? नहीं नहीं, इससे बहुत दूर। आत्महत्या करनेवालों को मृत्यु तो कभी प्यारी नहीं होती, क्योंकि यह बहुधा देखा गया है कि यदि कोई मनुष्य आत्महत्या करने जाता है और यदि वह अपने यत्न में असफल रहता है तो दुबारा फिर वह उस कृत्य का कभी नाम भी नहीं लेता। तो फिर प्रश्न यह है कि मृत्यु के लिए प्रेम कैसा होता है?

हम यह निश्चित जानते हैं कि हम एक न एक दिन अवश्य मरेंगे; और जब ऐसा है तो फिर किसी सत्कार्य के लिए ही हम क्यों न मरे? हमें चाहिए कि हम अपने सारे कार्यों को जैसे खाना, पीना, सोना, उठना, बैठना आदि सभी—आत्मत्याग की ओर लगा दे। भोजन द्वारा तुम अपने शरीर

को पुष्ट करते हो, परन्तु उससे क्या लाभ हुआ यदि तुमने उस शरीर को दूसरों की भलाई के लिए अर्पण न किया ? इसी प्रकार तुम पुस्तकें पढ़कर अपने मस्तिष्क को पुष्ट करते हो परन्तु उससे भी कोई लाभ नहीं यदि समस्त संसार के हित के लिए तुमने उस मस्तिष्क को न लगाया। केवल इस तुच्छ स्वयं के उत्थान के लिए यत्न करने की अपेक्षा यह श्रेष्ठ है कि तुम अपने करोड़ों भाइयों की सेवा करते रहो और इस प्रकार धीरे धीरे मृत्यु को प्राप्त हो जाओ। ऐसी ही मृत्यु में स्वर्ग है, उसी में सारी भलाई है, और इसके विपरीत करने में सारा अमंगल तथा कष्ट है।

अब हमें यह विचार करना चाहिए कि किन उपायों अथवा साधनों द्वारा हम इन आदर्शों को कार्यरूप में परिणत कर सकते हैं। सबसे पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि हमारा ध्येय ऐसा न हो जो असम्भव हो। अत्यन्त उच्च ध्येय रखने में एक बुराई यह है कि उससे राष्ट्र कमज़ोर हो जाता है तथा धीरे धीरे गिरने लगता है। यही हाल बौद्ध तथा जैन सुधारों के बाद हुआ। परन्तु साथ ही हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि अत्यधिक व्यावहारिकता भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि तुम स्वयं थोड़ा भी विचार नहीं कर सकते, यदि तुम्हारे पथ-प्रदर्शन के लिए तुम्हारे सामने कोई भी ध्येय नहीं है, तो तुम निरे जंगली ही हो। अतएव हमें अपने ध्येय को कभी नीचा नहीं करना चाहिए और साथ ही न यह हो कि हम व्यावहारिकता को बिल्कुल भूल बैठें। इन दो 'अत्यन्त' से हमें बचना चाहिए। हमारे देश में तो प्राचीन पद्धति यह है कि हम एक गुफा में बैठ जायँ, वहीं ध्यान करें और बस वहीं मर जायँ, परन्तु मुक्तिलाभ के लिए यह ग़लत सिद्धान्त है कि हम दूसरों से आगे ही बढ़ते चले जायँ। आगे-पीछे साधक को यह समझ लेना चाहिए कि यदि वह अपने अन्य भाइयों की मुक्ति के लिए भी यत्न नहीं करता है तो उसे मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। अतएव तुम्हें इस बात का यत्न करना चाहिए कि तुम्हारे जीवन में उच्च ध्येय तथा उच्च व्यावहारिकता का

सुन्दर सामञ्जस्य हो। तुम्हें इस बात के लिए तैयार होना चाहिए कि एक क्षण तो तुम पूर्ण रूप से ध्यान में मग्न हो सको पर दूसरे ही क्षण (मठ की भूमि की ओर इशारा करके स्वामीजी ने कहा) इन खेतों को जोतने के लिए उद्यत हो जाओ। अभी तुम इस बात के योग्य बनो कि शास्त्रों के कठिन से कठिन भावों को स्पष्ट रूप से समझा सको, पर दूसरे ही क्षण उसी उत्साह से इन खेतों की पैदावार को ले जाकर बाजार में भी बेच सको। नीच से नीच कार्य के लिए भी तुम्हें उद्यत रहना चाहिए और वह भी केवल यहाँ ही नहीं, वरन् सर्वत्र।

अब दूसरी बात जो ध्यान में रखने योग्य है वह यह है कि इस मठ का उद्देश्य है ' मनुष्य ' तैयार करना। तुम्हें केवल उसी पर नहीं विचार करते रहना चाहिए जो हमें ऋषियों ने सिखाया है। वे ऋषि अब चले गए हैं और उनकी शिक्षाएँ भी उन्हीं के साथ चली गई। अब तुम्हें स्वयं ऋषि बनना चाहिए। तुम भी मनुष्य हो और वैसे ही मनुष्य जैसे कि बड़े से बड़े जो कभी पैदा हुए, यहाँ तक कि तुम अवतारों के सदृश हो। केवल ग्रन्थों के पढ़ने से ही क्या होगा ? केवल ध्यान-धारणा से भी क्या होगा तथा केवल मंत्र-तंत्र भी क्या कर सकते हैं ? तुम्हें तो अपने ही पैरों पर खड़े होना चाहिए और इस नए ढंग से कार्य करना चाहिए — वह ढंग जिससे मनुष्य ' मनुष्य ' बन जाता है। सच्चा ' मनुष्य ' वही है जो इतना शक्तिशाली हो जितनी शक्ति स्वयं है, परन्तु फिर भी जिसका हृदय एक स्त्री के सदृश कोमल रहे। तुम्हारे चारों ओर जो करोड़ों व्यक्ति हैं उनके लिए तुम्हारे हृदय में प्रेम-भाव होना चाहिए, परन्तु साथ ही तुम लोहे के समान दृढ़ बने रहो, पर ध्यान रहे कि साथ ही तुममें नम्रता भी हो। मैं जानता हूँ कि ये गुण एक दूसरे के विरोधी प्रतीत होते हैं, परन्तु हाँ, ऐसे ही परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले गुण तुममें होने चाहिए। यदि तुम्हारे अध्यक्ष तुम्हें इस बात की आज्ञा दें कि तुम नदी में कूद पड़ो और एक मगर को पकड़ लाओ तो तुम्हारा कर्तव्य यह

होना चाहिए कि पहले तुम आज्ञा पालन करो और फिर कारण पूछो। भले ही तुम्हें दी हुई आज्ञा ठीक न हो, परन्तु फिर भी तुम पहले उसका पालन करो और फिर उस पर बहस करो। हमारे सम्प्रदायों में, विशेषकर बंगीय सम्प्रदायों में एक विशेष दोष यह है कि यदि किसी के मत में कुछ अन्तर होता है तो बिना कुछ सोचे-विचारे वह झट से एक नया सम्प्रदाय शुरू कर देता है। थोड़ा सा भी रुकने का उसमें धीरज नहीं होता। अतएव अपने संघ के प्रति तुम्हें अटूट श्रद्धा तथा विश्वास होना चाहिए। यहाँ उद्दण्डता को तनिक भी स्थान नहीं मिल सकता और यदि कहीं वह दिखाई दे तो बिना किसी दर्द के उसे कुचलकर नष्ट कर डालो, रौंद दो, नेस्तनाबूद कर दो। हमारे इस संघ में एक भी उद्दण्ड सदस्य नहीं रह सकता; और यदि कोई हो तो उन्हें निकाल बाहर करो। हमारे इस शिविर में दगाबाज़ी नहीं चल सकती, यहाँ एक भी धोखेबाज़ नहीं रह सकता। इतने स्वतंत्र रहो जितनी वायु, पर हाँ, साथ ही ऐसे आज्ञापालक तथा नम्र जैसा कि यह पौधा या कुत्ता।

---

२८. मैंने क्या सीखा ?

(ढाकानिवासियों के अत्यन्त अनुरोध से प्रायः दो हज़ार श्रोताओं के सामने जगन्नाथ कालेज-भवन में स्वामीजी ने उक्त विषय पर भाषण दिया। इस सभा के सभापति थे सुविख्यात वकील रमाकान्त नन्दी महाशय।)

स्वामीजी का भाषण

मैंने नाना देश-विदेशों में भ्रमण किया है, किन्तु मुझे कभी अपनी जन्मभूमि बंगाल के सविशेष दर्शन का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। मैं जानता न था कि इस देश के जल स्थल सभी में इतना सौन्दर्य भरा पड़ा है। किन्तु नाना देश के भ्रमण से मुझे यह लाभ हुआ है कि मैं विशेष रूप से इसके सौन्दर्य की उपलब्धि कर सकता हूँ। इसी भाँति मैं पहिले धर्म-जिज्ञासा से नाना सम्प्रदायों में—वैदेशिक भावबहुल अनेक प्रकार के सम्प्रदायों में—भ्रमण करता था, दूसरों के द्वार पर भिक्षा माँगता था—जानता न था कि मेरे देश का धर्म, मेरी जाति का धर्म इतना सुंदर है। आजकल एक दल है जो धर्म के भीतर वैदेशिक भाव घुसाने का विशेष पक्षपाती है। यह सुधारक दल मूर्तिपूजा का विरोधी है। इस दल के सुधारक कहते हैं कि हिन्दू धर्म सच्चा धर्म नहीं है, कारण, इसमें मूर्तिपूजा का विधान है। मूर्तिपूजा क्या है? यह अच्छी है या बुरी—इसका अनुसन्धान कोई नहीं करता, केवल इस शब्द के आधार पर वे हिन्दू धर्म को बदनाम करने का साहस करते हैं। एक दूसरा दल और भी है जो हिन्दुओं के प्रत्येक रीतिरिवाजों में वैज्ञानिकता ढूँढ़ निकालने का यत्न कर रहा है। कौन कह सकता है कि वे लोग एक दिन ईश्वर को भी विद्युत्प्रवाह-समूह न कर डालेंगे? जो कुछ भी

मैं प्राचीन सम्प्रदाय का हूँ।

हो, माता इन्हें आशीर्वाद दें। माता ही भिन्न भिन्न प्रकृति के द्वारा अपना कार्य साधन करती हैं। उक्त विचारवालों के अतिरिक्त एक और दल है, ये प्राचीन दल वाले कहते हैं कि हम लोग तुम्हारी अण्टसण्ट बातें नहीं जानते और न हमें जानने की इच्छा ही है, हम लोग तो ईश्वर, आत्मा, सुख-दुःखमय इस ससार को छोड़कर इसके अतीत प्रदेश में जाने का उपाय जानना चाहते हैं। यह दल कहता है कि सविश्वास गगा-स्नान करने से मुक्ति होती है, शिव, राम, विष्णु चाहे जो रहे हों, उनमें ईश्वरबुद्धि रखकर उपासना करने से मुक्ति होती है। मैं इसी प्राचीन दल का पक्षपाती हूँ।

आजकल एक और दल है जो ईश्वर और संसार दोनों की एक साथ ही उपासना करने के लिए कहता है। वह सच्चा नहीं है। उसका भाव और मुँह एक नहीं है। प्रकृत महात्माओं का उपदेश है:—

"जहाँ राम तहँ काम नहीं, जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँ होत नहिं नहीं, रवि रजनी इक ठाम॥"

इसीलिए ये महापुरुष कहते हैं कि यदि ईश्वर को पाना चाहते हो, तो काम कांचन का त्याग करना होगा। अंधकार और प्रकाश क्या कभी एक साथ रह सकते हैं? यह संसार असार, मायामय और मिथ्या है। इसे बिना छोड़े कदापि ईश्वर को नहीं पा सकते। यदि यह न कर सको तो मान लो कि हम दुर्बल हैं, किन्तु स्मरण रहे कि अपने आदर्श को कदापि नीचा न करना। मुर्दे को सोने के पत्ते से ढकने का यत्न न करो। अस्तु। यदि धर्म की उपलब्धि करनी है, यदि ईश्वर की प्राप्ति करनी है, तो भूलभुलैया का खेल खेलना छोड़ना होगा।

त्याग।

मैंने क्या सीखा? मैंने इस प्राचीन सम्प्रदाय से क्या सीखा? यही सीखा—

"दुर्लभ त्रयमेवैतत्, देवानुग्रहहेतुक।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्व महापुरुषसंश्रयः॥" *

---

* विवेकचूडामणि, ३

मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महापुरुष का संसर्ग ये तीन बातें पानी बहुत ही कठिन है। ये तीनों बिना ईश्वर की कृपा के नहीं मिल सकतीं। मुक्ति के लिए सबसे आवश्यक वस्तु है—मनुष्यत्व। इसके बाद चाहिए मुमुक्षुत्व—हमारे सम्प्रदाय और व्यक्ति-भेद से साधन-प्रणालियाँ भिन्न भिन्न हैं, किन्तु यह निःसकोच कहा जा सकता है कि मुमुक्षुत्व के बिना ईश्वरोपलब्धि असम्भव है। मुमुक्षुत्व क्या है? इस संसार के सुख-दुःख से छुटकारा पाने की तीव्र इच्छा, इस संसार से प्रबल घृणा। जिस समय भगवान के लिए यह तीव्र व्याकुलता होगी उसी समय समझना कि तुम ईश्वर-प्राप्ति के अधिकारी हुए हो। इसके बाद चाहिए महापुरुष का संग अर्थात् गुरुलाभ। गुरुपरम्परा से जो शक्ति प्राप्त होती है उसी के साथ अपना संयोग स्थापित करना होगा। उसके बिना मुमुक्षुत्व रहने पर भी कुछ न हो सकेगा अर्थात् गुरु करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। अब प्रश्न यह है कि किसे गुरु बनाया जाय?

हमारे चरम आदर्श मुक्तिलाभ के लिए आवश्यक हैं—व्याकुलता, गुरु और साधना।

कबीरदास ने लिखा है:—

"पोथी पढ़ तूती भयो, पण्डित भया न कोय।
अक्षर एक जो प्रेम से पढ़े तो पण्डित होय॥"

केवल पण्डित ही होने से काम न चलेगा। आजकल सभी लोग गुरु बनना चाहते हैं। भिक्षुक भी लाखों रुपये दान करना चाहता है। शास्त्रों में लिखा है:—

"श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः।" *

अर्थात् जिसे वेदों का रहस्य-ज्ञान है, जो निष्पाप है, जिसे कोई इच्छा न हो, जिसका लक्ष्य परोपकार के सिवाय दूसरा कुछ न हो, जो अहेतुक दयासिन्धु हैं, जो किसी लाभ के उद्देश्य से, नाम या यश के लिए उपदेश

* विवेकचूडामणि, ३३

नहीं देता, जो ब्रह्म को भलीभाँति जानता है, जिसने ब्रह्म को प्रत्यक्ष किया है, जिसने ईश्वर को करतलामलकवत् किया है — वही गुरु होने योग्य है। उसी के साथ आध्यात्मिक योग स्थापित होने से ईश्वर-प्राप्ति होगी — ईश्वर-साक्षात्कार सुगम होगा। इसके बाद आवश्यकता पड़ती है अभ्यास की। मनुष्य चाहे कितना ही व्याकुल क्यों न हो, चाहे कितना ही अच्छा गुरु क्यों न मिले, साधना — अभ्यास बिना किए उसे कभी भी ईश्वरोपलब्धि न होगी। जिस समय अभ्यास दृढ़ हो जायेगा उसी समय ईश्वर प्रत्यक्ष होगा। इसीलिए कहता हूँ कि हे हिन्दुओ, हे आर्य सन्तानगण, आप लोग इस आदर्श को कभी न भुलावें। हिन्दुओं का प्रधान लक्ष्य इस संसार से बाहर जाना है — केवल इसी संसार को छोड़ना होगा ऐसा नहीं है, अपितु, स्वर्ग को भी छोड़ना पड़ेगा — बुरी बातों के ही छोड़ने से काम नहीं चलेगा, अच्छी बातों का भी त्याग आवश्यक है — संसार-स्वर्ग, बुरा-भला इन सबके अतीत होना होगा।

---

२९. हमारा जन्म-प्राप्त धर्म

(३१ मार्च १९०१ को ढाका में दिया हुआ भाषण।)

प्राचीन और वर्तमान काल।

प्राचीन काल में हमारे देश में आध्यात्मिक भाव की अतिशय उन्नति हुई थी। हमें आज वही प्राचीन गाथा स्मरण करनी होगी। प्राचीन कालिक गौरव के स्मरण में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि हम कोई नवीन काम करना पसंद नहीं करते और केवल अपने प्राचीन गौरव के स्मरण और कीर्तन में ही सन्तुष्ट होकर अपने को सर्वश्रेष्ठ समझने लग जाते हैं। हमें इस सम्बन्ध में सावधान रहना चाहिए। प्राचीन काल मे अनेक ऋषि-महर्षि थे — उन्हें सत्य का साक्षात्कार हुआ था। किन्तु प्राचीन काल के स्मरण से वास्तविक उपकार तभी होगा जब हम भी उनके सदृश ऋषि हो सकें, केवल इतना ही नहीं — मेरा विश्वास है कि हम और भी श्रेष्ठ ऋषि हो सकेंगे। भूतकाल में हमारी खूब उन्नति हुई थी — मुझे उसे स्मरण करते हुए बड़ा गौरव होता है। वर्तमान कालिक अवनत अवस्था को देखकर भी मैं दुःखी नहीं होता और भविष्यत् में जो होगा, उसे अनुमान कर भी मैं आशान्वित होता हूँ। कारण, मैं जानता हूँ कि बीज का बीजत्व भाव जब नष्ट होगा तभी वह वृक्ष हो सकेगा। इस प्रकार वर्तमान अवनत अवस्था के भीतर भविष्यत् का महत्व निहित है।

हिन्दू धर्म में आपातविरोधी मतसमूह हैं।

हमारे जन्मप्राप्त धर्म में कौन कौन साधारण भाव हैं? ऊपर ऊपर विचार करने से हमें पता लगता है कि हमारे धर्म में नाना प्रकार के विरोध हैं। कुछ लोग अद्वैतवादी, कुछ विशिष्टाद्वैतवादी और कुछ द्वैतवादी हैं। कोई अवतार मानते हैं, कोई मूर्तिपूजा मानते हैं तो कोई निराकारवादी हैं। आचार के सम्बन्ध में नाना प्रकार की विभिन्नता दिखाई

जिन्हें, सदा ही बहती हुई अमृत-नदी के पास ही प्रवाहित होने पर भी तृष्णा के

देश के जनसाधारण के लिए प्राण दो।

समय पीने के लिए हमने नाबदान का पानी दिया, उन अगणित लाखों मनुष्यों का, जिनके सामने पर्याप्त भोजन के रहते हुए भी जिन्हे हमने भूखों मार डाला, जिन्हें हमने अद्वैतवाद का तत्व सुनाया और ऊपर से घृणा की, जिनके विरोध में हमने लोकाचार का आविष्कार किया, जिनसे जबानी तो यह कहा कि सब बराबर हैं, सब वही एक ब्रह्म हैं, परन्तु इस उक्ति को काम में लाने का कुछ भी प्रयत्न नहीं किया। "मन मे रखने ही से काम हो जायेगा, परन्तु व्यावहारिक ससार मे अद्वैतवाद को घसीटना?—हरे हरे!!" अपने चरित्र का यह दाग मिटा दो। उठो, जागो। यदि यह क्षुद्र जीवन चला भी जाय तो क्या हानि है? सभी मरेंगे—साधु-असाधु, धनी दरिद्र—सभी मरेंगे। चिरकाल तक किसी का शरीर नहीं रहेगा। अतएव उठो, जागो और सम्पूर्ण रूप से निष्कपट होओ। भारत में घोर कपटता समा गई है। चाहिए चरित्र, चाहिए इस तरह की दृढ़ता और चारित्र्य का बल जिससे मनुष्य आजीवन एक ही विषय को पकड़े रह सके।

"नीतिनिपुण मनुष्य चाहे निन्दा करें चाहे स्तुति, लक्ष्मी आएँ या चली जाएँ, मृत्यु आज ही हो चाहे शताब्दी के पश्चात्, जो धीर हैं वे न्यायमार्ग से एक पग भी नहीं हिल्ते।" उठो, जागो, समय बीता जा रहा है और व्यर्थ के वितण्डावाद में हमारी सम्पूर्ण शक्ति का क्षय होता जा रहा है। उठो, जागो, छोटे छोटे विषयों और मतमतान्तरों को लेकर व्यर्थ का विवाद छोड़ो। तुम्हारे सामने महान् कार्य पड़ा हुआ है—लाखों आदमी डूब रहे हैं, उनका उद्धार करो।

इस बात पर अच्छी तरह ध्यान देना कि मुसलमान जब भारत मे पहले पहल आये थे, तब भारत में अब से कितने अधिक हिन्दू रहते थे। आज उनकी संख्या कितनी घट गई है! इसका कोई प्रतिकार हुए बिना यह

उपसंहार।

दिन दिन और घटती ही जायेगी, अन्त में कोई भी हिन्दू न रह जायेगा। हिन्दूजाति के लुप्त होने के साथ ही — उनके सैकड़ों दोष रहने पर भी, संसार के सम्मुख उनके सैकड़ों विकृत चित्र उपस्थित करने पर भी — अब तक वे जिन-जिन महान् भावों के प्रतिनिधि-स्वरूप हैं वे भी लुप्त हो जायेंगे। और उनके लोप के साथ साथ सारे अध्यात्म ज्ञान का शिरोभूषण अपूर्व अद्वैततत्व भी लुप्त हो जायेगा। अतएव उठो, जागो, संसार की आध्यात्मिकता की रक्षा के लिए हाथ बढ़ाओ। और पहले अपने देश के कल्याण के लिए इस तत्व को काम में लाओ। हमे धर्म की उतनी आवश्यकता नहीं, इस जड़ संसार में अद्वैतवाद को कार्य में परिणत करना होगा, पहले अन्न की व्यवस्था करनी होगी, इसके बाद धर्म है। गरीब बेचारे भूखों मर रहे हैं, हम उन्हें आवश्यकता से अधिक धर्मोपदेश दे रहे हैं। मतमतान्तरों से पेट नहीं भरता। हमारे दो दोष बड़े ही प्रबल हैं : पहला दोष हमारी दुर्बलता है, दूसरा प्रेमशून्यता — हृदय की नीरसता। लाखों मतमतान्तरों की बात कह सकते हो, करोड़ों सम्प्रदाय सङ्गठित कर सकते हो, परन्तु जब तक उनके दु:ख का अपने हृदय मे अनुभव नहीं करते, वैदिक उपदेशों के अनुसार जब तक स्वयं नहीं समझते कि वे तुम्हारे ही शरीर के अंश हैं, जब तक तुम और वे — धनी और दरिद्र, साधु और असाधु सभी — जिसे तुम ब्रह्म कहते हो, उसी अनन्त सर्वस्वरूप के अंश नहीं हो जाते, तब तक कुछ न होगा।

सज्जनो, मैंने आप लोगों के सामने अद्वैतवाद के कुछ प्रधान भावों को प्रकाशित करने की चेष्टा की, अब इसे काम में लाने का समय आया है — केवल इसी देश मे नहीं, सब जगह। आधुनिक विज्ञान के लोहे के मुद्गरों की चोट खाकर द्वैतवादात्मक धर्मों की दीवार चूर चूर हो रही है। ऐसा नहीं कि द्वैतवादी सम्प्रदाय केवल यहीं शास्त्रीय श्लोकों का अर्थ खींच खींच कर कुछ का कुछ कर रहे हैं (इतनी दूर तक खींचा जा चुका है कि उसकी हद हो

गई है — कहाँ तक खींचातानी हो — श्लोक रबर थोड़े ही हैं ?), ऐसा नहीं कि केवल यहीं वे लोग आत्मरक्षा के लिए अंधेरे मे किसी कोने में छिपने की चेष्टा कर रहे हैं; नहीं, यूरोप और अमेरिका मे तो यह प्रयत्न और भी ज्यादा है। और यहाँ भी भारत के इस तत्व का कुछ अंश जाना चाहिए। पहले ही वह जा चुका है — दिन दिन उसका प्रसार बढ़ाना चाहिए। पश्चिमी सभ्य संसार की रक्षा के लिए इसकी बड़ी आवश्यकता है। कारण, पाश्चिमी देशों मे पहले का भाव उठ गया है और एक नया ढग — कांचन की पूजा प्रवर्तित हुई है। इस आधुनिक धर्म अर्थात् पारस्परिक प्रतियोगिता और कांचन की पूजा की अपेक्षा पहले की अपरिणत धर्म की राह अच्छी थी। कोई भी जाति हो, चाहे वह कितनी ही प्रबल क्यों न हो, ऐसी बुनियाद पर कभी नहीं ठहर सकती। और संसार का इतिहास हमसे कह रहा है, जिन किन्हीं लोगों ने ऐसी बुनियाद पर अपने समाज की प्रतिष्ठा की, वे ही विनष्ट हो गये। जिससे भारत में इस कांचन-पूजा की तरंग न आ सके, उसकी ओर पहले ही से नज़र रखनी होगी। अतएव सब के पास यह अद्वैतवाद प्रचारित करो, जिससे धर्म आधुनिक विज्ञान की प्रबल आघातों से भी अक्षत बना रहे। केवल इतना ही नहीं, तुम्हें दूसरों की भी सहायता करनी होगी — तुम्हारी भावराशि यूरोप और अमेरिका का उद्धार साधन करेगी, परन्तु सबसे पहले तुम्हें याद दिलाता हूँ, यथार्थ कार्य यहीं है और उसका प्रथमांश है दिन पर दिन घोर से घोरतर दारिद्रय और अज्ञान-तिमिर में डूबे हुए साधारण लाखों भारतीयों की उन्नति-साधना। उनके कल्याण के लिए, उनकी सहायता के लिए अपने बाहुओं को प्रसारित कर दो और भगवान श्रीकृष्ण की यह वाणी याद रखो —

"इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्मात् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥"[1]

---

[1] गीता, ५–१९

“ जिनका मन इस साम्य भाव में अवस्थित है, उन्होंने इस जीवन में ही संसार पर विजय प्राप्त कर ली है। चूँकि ब्रह्म निर्दोष और सम हैं, इसलिए वे ब्रह्म में अवस्थित हैं। ”

निवेदन

हिंदी मे उत्तम कोटि के निबंधों का कोई ऐसा संग्रह अब तक प्रकाशित नहीं हुआ जो निबंध-लेखन-कला के विचार से साहित्यिक कोटि का हो और जो ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थियों के हाथों मे इस उद्देश्य से दिया जा सके कि वे उसे आदर्श मानकर अपनी लेखनशैली तथा विषय-प्रतिपादन-रीति को सुधार सकें। इस अभाव की पूर्ति के उद्देश्य से यह संग्रह प्रस्तुत किया जा रहा है। पहले भाग में अपेक्षाकृत सरल लेखों का संग्रह है तथा दूसरे भाग में उससे कठिन लेखों का संग्रह। भाषा की कठिनता या सरलता तो अधिकांश में शब्दों की तत्समता या तद्भवता पर निर्भर रहती है, परंतु विषय को कठिन या सरल बनाने में विचारों की गूढता, विषय-प्रतिपादन की गंभीरता, मुहाविरों की प्रचुरता, आनुषंगिक प्रयोगों की योजना और पदों की जटिलता तथा इन गुणों की न्यूनता ही विशेष रूप से उत्तरदायी होती है। निबंधमाला के दोनों भागों को प्रस्तुत करने में हमने भाषा की अपेक्षा विषय की ही सरलता और काठिन्य का भेद अपने सामने रखा है, यद्यपि भिन्न भिन्न प्रकार के लेखपुष्पों को निबंधमाला के दोनों भागों मे ग्रथित करने की चेष्टा भी की गई है।

खेद है कि हिंदी मे अभी भिन्न भिन्न निबंधशैलियो की श्रेणीशृंखला नहीं बन पाई है जैसी कि अँगरेजी आदि के उन्नत साहित्यों में बन चुकी है। अँगरेजी में तो निबंधशैलियों का ऐतिहासिक अनुक्रम भी मिलता है, किंतु हिंदी में अभी भाषा की सरलता और क्लिष्टता के अधार पर ही साहित्य का अधिकाश विवेचन हो रहा है। इस चिंताजनक दशा का कारण अच्छे निबंधलेखकों का अभाव ही नहीं है, अच्छे साहित्यसमीक्षकों का अभाव भी है। निबधों के सूक्ष्मसूक्ष्म भेदों पर हिंदीसमाज की दृष्टि का पहुँचना तब तक संभव नहीं देख पड़ता जब तक हिंदी की पत्रपत्रिकाएँ भाषा के झगड़ों को छोड़कर वास्तविक विचारपद्धति को ग्रहण नहीं करतीं। इस सग्रह में भावप्रधान, कल्पनाप्रधान, विचारप्रधान, वर्णनप्रधान आदि विशेषताओं को दृष्टि मे रखकर निबंधों का जो चयन किया गया है उसे निबंधसाहित्य की अट्टालिका पर पहुँचने की केवल पहली सीढ़ी समझना चाहिए।

निबंध या प्रबंधलेखन साहित्य का एक प्रमुख अंग माना जाता है। आख्यायिकाओं और उपन्यासों के इस युग में भी यह स्वीकार किया जाता है कि विचारों को व्यक्त करने की सबसे स्पष्ट शैली निबध की ही है। व्यक्तित्व की झलक दिखाने के लिये पश्चिम के साहित्यकार निबंध लिखने की कला का ही विशेष रूप से अभ्यास करते हैं। कथाकहानियों की वस्तुप्रधान व्यंजनाशैली की अपेक्षा निबधलेखन की

व्यक्तिप्रधान अभिधा शैली (Subjective art) अब भी अपना अलग महत्व रखती है। यह कोई नहीं कह सकता कि निबंधरचना का अंग साहित्य के अन्य किसी अंग की अपेक्षा किसी भी रूप में हीन है, तथापि हिंदी मे अभी इस दिशा मे बहुत थोड़ी प्रतिभा का प्रदर्शन किया गया है। मासिक पत्रिकाओं के पृष्ठ प्रतिमास अनेकानेक निबंधों से रँगे रहते हैं पर उच्च कोटि के निबंध अब तक अल्प संख्या में ही प्रकाशित हुए हैं। साहित्यिक समीक्षा से संबंध रखनेवाले निबंधों की शैली कुछ दिनों से अच्छी मात्रा में उन्नति कर रही है, परंतु दूसरे प्रकार के निबंध उतनी ही मात्रा में अवनत भी हो रहे हैं। निबंधलेखन की कला में शक्तिशाली उत्थान की आवश्यकता है।

— श्यामसुंदरदास

———

विषयसूची

हिंदी निबंधमाला

दूसरा भाग

धोखा

[पंडित प्रतापनारायण मिश्र]

इन दो अक्षरों में भी न जाने कितनी शक्ति है कि इनकी लपेट से बचना यदि निरा असंभव न हो तो भी महा कठिन तो अवश्य है। जब कि भगवान् रामचंद्र ने मारीच राक्षस को सुवर्णमृग समझ लिया था तो हमारी आपकी क्या सामर्थ्य है जो धोखा न खायँ। वरन ऐसी ऐसी कथाओं से विदित होता है कि स्वयं ईश्वर भी केवल निराकार निर्विकार ही रहने की दशा मे इससे पृथक् रहता है, सो भी एक रीति से नहीं ही रहता, क्योंकि उसके मुख्य कामों में से एक काम सृष्टि का उत्पादन करना है, उसके लिये उसे अपनी माया का आश्रय लेना पड़ता है, और माया, भ्रम, छल इत्यादि धोखे ही के पर्याय नहीं। इस रीति से यदि हम कहे कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है तो अयुक्त न होगा, क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह धोखा खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है, जिसे

दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि माया का प्रपंच फैलाता है व धोखे की टट्टी खड़ी करता है।

अतः सबसे पृथक् रहनेवाला ईश्वर भी ऐसा नहीं है, जिसके विषय में यह कहने का स्थान हो कि वह धोखे से अलग है, वरंच धोखे से पूर्ण उसे कह सकते हैं, क्योंकि वेदों में उसे "आश्चर्योऽस्य वक्ता", "चित्रं देवानामुदगादनीक" इत्यादि कहा है, और आश्चर्य तथा चित्रत्व को मोटी भाषा में धोखा ही कहते हैं, अथवा अवतारधारण की दशा में उसका नाम मायावपुधारी होता है, जिसका अर्थ है—धोखे का पुतला। और सच भी यही है; जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रगट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है वह धोखे का पुतला नहीं है तो क्या है! हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसके विषय में कोई निश्चय-पूर्वक 'इदमित्थ' कही नहीं सकता, जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता वह निर्भ्रम या भ्रमरहित क्योंकर कहा जा सकता है। शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है, जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके; पर उसके तो अस्तित्व तक मे नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा? और जब वही भ्रम से पूर्ण है तब उसके बनाए ससार में भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहाँ?

वेदांती लोग जगत् को मिथ्या, भ्रम समझते हैं, यहाँ तक कि एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को भली भाँति समझा दिया था कि विश्व में जो कुछ है, और जो कुछ होता है, सब भ्रम है। किंतु यह समझाने के कुछ ही दिन उपरांत उनके किसी प्रिय व्यक्ति का प्राणांत हो गया, जिसके शोक में वे फूट फूटकर रोने लगे। इसपर शिष्य ने आश्चर्य में आकर पूछा कि आप तो सब बातों को भ्रमात्मक मानते हैं, फिर जान बूझकर रोते क्यों हैं? इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि रोना भी भ्रम ही है। सच है! भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान् के बनाए हुए भव (संसार) में जो कुछ है, भ्रम ही है। जब तक भ्रम है तभी तक संसार है, वरंच संसार का स्वामी भी तभी तक है, फिर कुछ भी नहीं! और कौन जाने, हो तो हमें उससे कोई काम नहीं! परमेश्वर सबका भरम बनाए रक्खे, इसी में सब कुछ है। जहाँ भरम खुल गया वहीं लाख की भलमसी खाक में मिल जाती है। जो लोग पूरे ब्रह्मज्ञानी बनकर संसार को सचमुच माया की कल्पना मान बैठते हैं वे अपनी भ्रमात्मक बुद्धि से चाहे अपने तुच्छ जीवन को साक्षात् सर्वेश्वर मानके सर्वथा सुखी हो जाने का धोखा खाया करें, पर संसार के किसी काम के नहीं रह जाते हैं, वरंच निरे अकर्ता, अभोक्ता बनने की उमंग में अकर्मण्य और "नारि नारि सब एक हैं जस मेहरि तस माय" इत्यादि सिद्धान्तों के मारे अपना तथा दूसरों का जो अनिष्ट न कर बैठें

नही थोड़ा है, क्योंकि लोक और परलोक का मजा भी धोखे ही मे पड़े रहने से प्राप्त होता है। बहुत ज्ञान छांटना सत्यानाशी की जड़ है! ज्ञान की दृष्टि से देखें तो आपका शरीर मल-मूत्र-मास-मज्जादि घृणास्पद पदार्थों का विकार मात्र है, पर हम उसे प्रीति का पात्र समझते हैं, और दर्शन-स्पर्शनादि से आनंदलाभ करते है।

हमको वास्तव में इतनी जानकारी भी नहीं है कि हमारे शिर में कितने बाल हैं वा एक मिट्टी के गोले का सिरा कहाँ पर है, किंतु आप हमें बडा भारी विज्ञ और सुलेखक समझते हैं, तथा हमारी लेखनी या जिह्वा की कारीगरी देख देखकर सुख प्राप्त करते हैं। विचार कर देखिए तो धनजन इत्यादि पर किसी का कोई स्वत्व नहीं है, इस क्षण वे हमारे काम आ रहे हैं, क्षण ही भर के उपरात न जाने किसके हाथ मे वा किस दशा में पड़के हमारे पक्ष में कैसे हो जायँ, और मान भी लें कि इनका वियोग कभी न होगा तो भी हमें क्या? आखिर एक दिन मरना है, और 'मूँदि गई आँखैं तब लाखैं केहि काम की'। पर यदि हम ऐसा समझकर सबसे संबंध तोड़ दें तो सारी पूंजी गँवाकर निरे मूर्ख कहलावें स्त्री पुत्रादि का प्रबंध न करके उनका जीवन नष्ट करने का पाप मुड़ियावें!. 'ना हम काहू के कोऊ ना हमारा' का उदाहरण बनके सब प्रकार सुख, सुविधा, सुयश से वंचित रह जायँ! इतना ही नहीं, वरंच और भी सोचकर देखिए तो किसी

को कुछ भी खबर नहीं है कि मरने के पीछे जीव की क्या दशा होगी।

बहुतेरों का सिद्धांत यह भी है कि दशा किसकी होगी, जीव तो कोई पदार्थ ही नहीं है। घड़ी के जब तक सब पुरजे दुरुस्त है, और ठीक ठीक लगे हुए हैं तभी तक उसमे खट खट, टन टन आवाज आ रही है, जहाँ उसके पुरजों का लगाव बिगड़ा, वहीं न उसकी गति है, न शब्द है। ऐसे ही शरीर का क्रम जब तक ठीक ठीक बना हुआ है, मुख से शब्द और मन से भाव तथा इंद्रियों से कर्म का प्राकट्य होता रहता है, जहाँ इसके क्रम में व्यतिक्रम हुआ, वहीं सब खेल बिगड़ गया, बस फिर कुछ नहीं, कैसा जीव! कैसी आत्मा! एक रीति से यह कहना झूठ भी नहीं जान पड़ता, क्योंकि जिसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है उसके विषय में अततो-गत्वा यों ही कहा जा सकता है! इसी प्रकार स्वर्ग नरकादि के सुखदुःखादि का होना भी नास्तिकों ही के मत से नहीं, किंतु बड़े बड़े आस्तिकों के सिद्धांत से भी 'अविदित सुख दुःख निर्विशेष स्वरूप' के अतिरिक्त कुछ समझ में नहीं आता।

स्कूल मे हमने भी सारा भूगोल और खगोल पढ़ डाला है, पर नरक और वैकुंठ का पता कहीं नहीं पाया। किंतु भय और लालच को छोड़ दें तो बुरे कामों से घृणा और सत्कर्मों मे रुचि न रखकर भी तो अपना अथच पराया अनिष्ट ही करेंगे। ऐसी ऐसी बातें सोचने से गोस्वामी तुलसीदास जी का 'गो

गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु माई' और श्री सूरदास जी का 'माया मोहनी मनहरन' कहना प्रत्यक्षतया सच्चा जान पड़ता है। फिर हम नहीं जानते कि धोखे को लोग क्यों बुरा समझते हैं। धोखा खानेवाला मूर्ख और धोखा देनेवाला ठग क्यों कहलाता है? जब सब कुछ धोखा ही धोखा है, और धोखे से अलग रहना ईश्वर की भी सामर्थ्य से दूर है, तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न पिन्न चला जाता है, नहीं तो ढिच्चर ढिच्चर होने लगे, वरंच रही न जाय तो फिर इस शब्द का स्मरण वा श्रवण करते ही आपकी नाक-भौंह क्यों सुकुड़ जाती है? इसके उत्तर में हम तो यही कहेंगे कि साधारणतः जो धोखा खाता है वह अपना कुछ न कुछ गँवा बैठता है, और जो धोखा देता है उसकी एक न एक दिन कलई खुले बिना नहीं रहती है, और हानि सहना वा प्रतिष्ठा खोना दोनों बातें बुरी हैं, जो बहुधा इसके सबंध में हो ही जाया करती हैं।

इसी से साधारण श्रेणी के लोग धोखे को अच्छा नहीं समझते; यद्यपि उससे बच नहीं सकते, क्योंकि जैसे काजल की कोठरी में रहनेवाला बेदाग नहीं रह सकता वैसे ही भ्रमात्मक भवसागर में रहनेवाले अल्पसामर्थी जीव का भ्रम से सर्वथा बचा रहना असंभव है, और जो जिससे बच नहीं सकता उसका उसकी निंदा करना नीतिविरुद्ध है। पर क्या कीजिए, कच्ची खोपड़ी के मनुष्य को प्राचीन प्राज्ञगण अल्पज्ञ

कह गए हैं, जिसका लक्षण ही है कि आगापीछा सोचे बिना जो मुँह पर आवे कह डालना और जो जी में समावे कर उठना, नहीं तो कोई काम वा वस्तु वास्तव में भली अथवा बुरी नहीं होती, केवल उसके व्यवहार का नियम बनने बिगड़ने से बनावबिगाड़ हो जाया करता है।

परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को सब कुछ उठा दीजिए तो क्या भीख माँग के प्रतिष्ठा, अथवा चोरी करके धर्म खोइएगा, या भूखों मरके आत्म-हत्या के पापभागी होइएगा! यौंही किसी को सताना अच्छा नहीं कहा जाता है, पर यदि कोई संसार का अनिष्ट करता हो, उसे राजा से दण्ड दिलवाइए वा आप ही उसका दमन कर दीजिए तो अनेक लोगों के हित का पुण्य-लाभ होगा।

घी बड़ा पुष्टिकारक होता है, पर दो सेर घी लीजिए तो उठने बैठने की शक्ति न रहेगी, और संखिया, सींगिया आदि प्रत्यक्ष विष हैं, किंतु उचित रीति से शोधकर सेवन कीजिए तो बहुत से रोग दोख दूर हो जायँगे। यही लेखा धोखे का भी है। दो एक बार धोखा खाके धोखेबाजों की हिकमतें सीख लो। और कुछ अपनी ओर से झपकी फुदनी जोड़कर 'उसी की जूती उसी का सिर' कर दिखाओ तो बड़े भारी अनुभवशाली वरंच 'गुरु गुड़ ही रहा चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलाओगे। यदि इतना न हो सके तो उसे पास

न फटकने दो तो भी भविष्य के लिये हानि और कष्ट से बच जाओगे।

यों ही किसी को धोखा देना हो तो इस रीति से दो कि तुम्हारी चालबाजी कोई भाँप न सके, और तुम्हारा बलिपशु यदि किसी कारण से तुम्हारे हथकंडे ताड़ भी जाय तो किसी से प्रकाशित करने के काम का न रहे। फिर बस, अपनी चतुरता के मधुर फल को मूर्खों के आँसू तथा गुरुघंटालों के धन्यवाद की वर्षा के जल से धो और स्वादुपूर्वक खा! इन दोनों रीतियों से धोखा बुरा नहीं है। अगले लोग कह गए हैं कि आदमी कुछ खोके सीखता है, अर्थात् धोखा खाए बिना अक्किल नहीं आती, और बेईमानी तथा नीतिकुशलता में इतना ही भेद है कि जाहिर हो जाय तो बेईमानी कहलाती है, और छिपी रहे तो बुद्धिमानी है।

हमें आशा है कि इतना लिखने से आप धोखे का तत्व—यदि निरे खेत के धोखे न हों, मनुष्य हों तो—समझ गए होंगे। पर अपनी ओर से इतना और समझा देना भी हम उचित समझते हैं कि धोखा खाके धोखेबाज का पहिचानना साधारण समझवालों का काम है। इससे जो लोग अपनी भाषा, भोजन, भेष, भाव और भ्रातृत्व को छोड़के आपसे भी छुड़वाया चाहते हों उनको समझे रहिए कि स्वयं धोखा खाए हुए हैं, और दूसरों को धोखा दिया चाहते हैं। इससे ऐसों से बचना परम कर्तव्य है, और जो पुरुष एवं पदार्थ अपने न हों वे देखने

में चाहे जैसे सुशील और सुंदर हों, पर विश्वास के पात्र नहीं हैं, उनसे धोखा हो जाना असम्भव नहीं है। बस, इतना स्मरण रखिएगा तो धोखे से उत्पन्न होनेवाली विपत्तियों से बचे रहिएगा, नहीं तो हमें क्या, अपनी कुमति का फल अपने ही आँसुओं से धोओ और खाओगे, क्योंकि जो हिंदू होकर ब्रह्म-वाक्य नहीं मानता वह धोखा खाता है।

———

मजदूरी और प्रेम

[सर्दार पूर्णसिंह]

हल चलानेवाले का जीवन

हल चलाने और भेड़ चरानेवाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलानेवाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवनकुंड की ज्वाला की किरणें चावल के लंबे और सुफेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाल लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डलियाँ सी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूँ तब मुझे बाग के माली का रुधिर याद आ जाता है। उसकी मेहनत के कण जमीन में गिरकर उगे हैं, और हवा तथा प्रकाश की सहायता से वे मीठे फलों के रूप में नजर आ रहे हैं। किसान मुझे अन्न में, फूल में, फल मे, आहुति हुआ सा दिखाई देता है। कहते है, ब्रह्माहुति से जगत् पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान है। खेती उसके ईश्वरीप्रेम का केंद्र है। उसका सारा जीवन पत्ते पत्ते में, फूल फूल मे, फल फल मे बिखर रहा है। वृक्षों की तरह उसका भी जीवन एक तरह का मौन जीवन है। वायु, जल, पृथ्वी, तेज और आकाश की नीरोगता इसी के हिस्से में है। विद्या यह नहीं पढ़ा, जप और तप यह नहीं करता; संध्यावंदनादि

इसे नहीं आते; ज्ञान, ध्यान का इसे पता नहीं; मसजिद, गिरजे, मंदिर से इसे सरोकार नहीं, केवल साग पात खाकर ही यह अपनी भूख निवारण कर लेता है। ठंढे चश्मे और बहती हुई नदियों के शीतल जल से यह अपनी प्यास बुझा लेता है। प्रातःकाल उठकर यह अपने हल बैलों को नमस्कार करता है और हल जोतने चल देता है। दोपहर की धूप इसे भाती है। इसके बच्चे मिट्टी ही मे खेल खेलकर बड़े हो जाते हैं। इसको और इसके परिवार को बैलों और गौओं से प्रेम है। उनकी यह सेवा करता है। पानी बरसानेवाले के दर्शनार्थ इसकी आँखें नीले आकाश की ओर उठती हैं। नयनों की भाषा में यह प्रार्थना करता है। सांय और प्रातः, दिन और रात, विधाता इसके हृदय में अचिंतनीय और अद्भुत आध्यात्मिक भावों की वृष्टि करता है। यदि कोई इसके घर आ जाता है तो यह उसको मृदु वचन, मीठे जल और अन्न से तृप्त करता है। धोखा यह किसी को नहीं देता। यदि इसको कोई धोखा दे भी दे, तो उसका इसे ज्ञान नहीं होता; क्योंकि इसकी खेती हरी भरी है; गाय इसको दूध देती है; स्त्री इसकी आज्ञाकारिणी है; मकान इसका पुण्य और आनंद का स्थान है। पशुओं को चराना, नहलाना, खिलाना, पिलाना, उनके बच्चों की अपने बच्चों की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उनके साथ रातें गुजार देना क्या स्वाध्याय से कम है? दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा

जाता है, अन्यत्र मिलने का नहीं। गुरु नानक ने ठीक कहा है—"भोले भाव मिलें रघुराई।" भोले भाले किसानों को ईश्वर अपने खुले दीदार का दर्शन देता है। उनकी फूस की छतों में से सूर्य और चद्रमा छन छनकर उनके बिस्तरों पर पड़ते है। ये प्रकृति के जवान साधु हैं। जब कभी मैं इन बे मुकुट के गोपालों का दर्शन करता हू, मेरा सिर स्वय ही झुक जाता है। जब मुझे किसी फकीर के दर्शन होते हैं तब मुझे मालूम होता है कि नगे सिर, नगे पाँव, एक टोपी सिर पर, एक लँगोटी कमर मे, एक काली कमली कधे पर, एक लंबी लाठी हाथ मे लिए हुए गौवों का मित्र, बैलों का हमजोली, पक्षियों का महाराज, महाराजाओं का अन्नदाता, बादशाहों को ताज पहनाने और सिहासन पर बिठानेवाला, भूखों और नंगों का पालनेवाला, समाज के पुष्पोद्यान का माली और खेतों का वाली जा रहा है।

गड़ेरिए का जीवन

एक बार मैंने एक बुड्ढे गड़ेरिए को देखा। घना जंगल है। हरे हरे वृक्षों के नीचे उसकी सुफेद ऊनवाली भेड़े अपना मुँह नीचा किए हुए कोमल कोमल पत्तियाँ खा रही हैं। गड़ेरिया बैठा आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उसकी आँखों में प्रेम लाली छाई हुई है। वह नीरोगता की पवित्र मदिरा से मस्त हो रहा है। बाल उसके

सारे सुफेद हैं। और, क्यों न सुफेद हों ? सुफेद भेड़ों का मालिक जो ठहरा। परतु उसके कपोलों से लाली फूट रही है। बरफानी देशों में वह मानों विष्णु के समान क्षीरसागर में लेटा है। उसकी प्यारी स्त्री उसके पास रोटी पका रही है। उसकी दो जवान कन्याएँ उसके साथ जगल जगल भेड़ चराती घूमती हैं। अपने माता पिता और भेड़ों को छोड़कर उन्होंने किसी और को नहीं देखा। मकान इनका बेमकान है; घर इनका बेघर है; ये लोग बेनाम और बेपता हैं।

किसी घर में न घर कर बैठना इस दरे फानी में।
टिकाना बेटिकाना और मकाँ बर लामकाँ रखना॥

इस दिव्य परिवार को कुटी की जरूरत नहीं। जहाँ जाते हैं, एक घास की झोपड़ी बना लेते हैं। दिन को सूर्य और रात को तारागण इनके सखा हैं।

गड़ेरिए की कन्या पर्वत के शिखर के ऊपर खड़ी सूर्य का अस्त होना देख रही है। उसकी सुनहली किरणें इसके लावण्यमय मुख पर पड़ रही हैं। यह सूर्य को देख रही है। और वह इसको देख रहा है।

हुए थे आँखों के कल इशारे इधर हमारे उधर तुम्हारे।
चले थे अश्कों के क्या फवारे इधर हमारे उधर तुम्हारे॥

बोलता कोई भी नहीं। सूर्य उसकी युवावस्था की पवित्रता पर मुग्ध है और वह आश्चर्य के अवतार सूर्य की महिमा के तूफान में पड़ी नाच रही है।

इनका जीवन बर्फ की पवित्रता से पूर्ण और वन की सुगंधि से सुगंधित है। इनके मुख, शरीर और अंतःकरण सुफेद, इनकी बर्फ, पर्वत और भेड़ें सुफेद। अपनी सुफेद भेड़ों मे यह परिवार शुद्ध सुफेद ईश्वर के दर्शन करता है।

जो खुदा को देखना हो तो मैं देखता हूँ। तुमको।
मैं देखता हूँ तुमको जो खुदा को देखना हो।।

भेड़ो की सेवा ही इनकी पूजा है। जरा एक भेड़ बीमार हुई, सब परिवार पर विपत्ति आई। दिन रात उसके पास बैठ काट देते हैं। उसे अधिक पीड़ा हुई तो इन सब की आँखें शून्य आकाश में किसी को देखते देखते गल गई। पता नहीं ये किसे बुलाती हैं। हाथ जोड़ने तक की इन्हें फुरसत नहीं। पर, हाँ, इन सब की आँखें किसी के आगे शब्दरहित, संकल्परहित मौन प्रार्थना मे खुली। दो रातें इसी तरह गुजर गई। इनकी भेड़ अब अच्छी है। इनके घर मंगल हो रहा है। सारा परिवार मिलकर गा रहा है। इतने में नीले आकाश पर बादल घिर आए और झम झम बरसने लगे। मानों प्रकृति के देवता भी इनके आनद से आनंदित हुए। बूढ़ा गड़ेरिया आनद मत्त होकर नाचने लगा। वह कहता कुछ नहीं; पर किसी दैवी दृश्य को उसने अवश्य देखा है। वह फूले अग नहीं समाता, रग रग उसकी नाच रही है। पिता को ऐसा सुखी देख दोनों कन्याओं ने एक दूसरे का हाथ पकडकर पहाडी राग अलापना आरभ कर दिया।

साथ ही धम धम थम थम नाच की उन्होंने धूम मचा दी। मेरी आँखों के सामने ब्रह्मानंद का समाँ बाँध दिया। मेरे पास मेरा भाई खड़ा था। मैंने उससे कहा—"भाई, अब मुझे भी भेड़ें ले दो।" ऐसे ही मूक जीवन से मेरा भी कल्याण होगा। विद्या को भूल जाऊँ तो अच्छा है। मेरी पुस्तकें खो जावें तो उत्तम है। ऐसा होने से क़दाचित् इस वनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जायँ और मैं ईश्वरीय झलक देख सकूँ। चद्र और सूर्य की विस्तृत ज्योति मे जो वेदगान हो रहा है उसे इस गड़ेरिए की कन्याओं की तरह मैं सुन तो न सकूँ, परतु कदाचित् प्रत्यक्ष देख सकूँ। कहते हैं, ऋषियों ने भी, इनको देखा ही था; सुना न था। पडितों की ऊटपटाँग बातों से मेरा जी उकता गया है। प्रकृति की मंद मद हँसी में ये अनपढ़ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओंठ देख रहे हैं। पशुओं के अज्ञान में गभीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगों के जीवन मे अद्भुत आत्मानुभव भरा हुआ है। गड़े-रिए के परिवार की प्रेम मजदूरी का मूल्य कौन दे सकता है ?

मजदूर की मजदूरी

आपने चार आने पैसे मजदूर के हाथ में रखकर कहा—"यह लो दिन भर की अपनी मजदूरी"। वाह क्या दिल्लगी है! हाथ, पाँव, सिर, आँखे इत्यादि सबके सब अवयव उसने आपको अर्पण कर दिए। ये सब चीजे उसको तो थीं ही नहीं,

ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिए वे भी आपके न थे। वे तो पृथ्वी से निकली हुई धातु के टुकड़े थे; अतएव ईश्वर के निर्मित थे। मजदूरी का ऋण तो परस्पर की प्रेम सेवा से चुकता होता है, अन्न-धन देने से नहीं। वे तो दोनों ही ईश्वर के हैं। अन्न धन वही बनाता है और जल भी वही देता है। एक जिल्दसाज ने मेरी एक पुस्तक की जिल्द बाँध दी। मैं तो इस मजदूर को कुछ भी न दे सका। परंतु उसने मेरी उम्र भर के लिये एक विचित्र वस्तु मुझे दे डाली। जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया, मेरे हाथ जिल्दसाज के हाथ पर जा पड़े। पुस्तक देखते ही मुझे जिल्दसाज याद आ जाता है। वह मेरा आमरण मित्र हो गया है, पुस्तक हाथ में आते ही मेरे अंतःकरण में रोज भरतमिलाप का सा समाँ बँध जाता है।

गाढे की एक कमीज को एक अनाथ विधवा सारी रात बैठकर सीती है; साथ ही साथ वह अपने दुःख पर रोती भी है—दिन को खाना न मिला। रात को भी कुछ मयस्सर न हुआ। अब वह एक एक टाँके पर आशा करती है कि कमीज कल तैयार हो जायगी; तब कुछ तो खाने को मिलेगा। जब वह थक जाती है तब ठहर जाती है। सुई हाथ में लिए हुए है, कमीज घुटने पर बिछी हुई है, उसकी आँखों की दशा उस आकाश की जैसी है जिसमें बादल बरसकर अभी अभी बिखर गए हैं। खुली आँखें ईश्वर के ध्यान में लीन हो रही हैं। कुछ काल के उपरात "हे राम" कहकर उसने फिर सीना

शुरू कर दिया। इस माता और इस बहन की सिली हुई कमीज मेरे लिये मेरे शरीर का नहीं—मेरी आत्मा का वस्त्र है! इसका पहनना मेरी तीर्थयात्रा है। इस कमीज मे उस विधवा के सुख दुःख, प्रेम और पवित्रता के मिश्रण से मिली हुई जीवनरूपिणी गगा की बाढ चली जा रही है। ऐसी मजदूरी और ऐसा काम—प्रार्थना, सध्या और नमाज से क्या कम है? शब्दों से तो प्रार्थना हुआ नहीं करती। ईश्वर तो कुछ ऐसी ही मूक प्रार्थनाएं सुनता है और तत्काल सुनता है।

प्रेममजदूरी

मुझे तो मनुष्य के हाथ से बने हुए कामों में उनकी प्रेममय पवित्र आत्मा की सुगंध आती है। राफल आदि के चित्रित चित्रों में उनकी कलाकुशलता को देख, इतनी सदियों के बाद भी, उनके अंतःकरण के सारे भावों का अनुभव होने लगता है। केवल चित्र का ही दर्शन नहीं, किंतु, साथ ही, उसमें छिपी हुई चित्र-कार की आत्मा तक के दर्शन हो जाते हैं। परतु यंत्रों की सहायता से बने हुए फोटो निर्जीव से प्रतीत होते हैं। उनमें और हाथ के चित्रों में उतना ही भेद है जितना कि बस्ती और श्मशान में।

हाथ की मेहनत से चीज मे जो रस भर जाता है वह भला लोहे के द्वारा बनाई हुई चीज मे कहाँ! जिस आलू को मैं स्वयं बोता हूँ, मैं स्वय पानी देता हूँ, जिसके इर्द गिर्द की

घासपात खोदकर मैं साफ करता हूँ उस आलू में जो रस मुझे आता है वह टीन में बंद किए हुए अचार मुरब्बे मे नहीं आता। मेरा विश्वास है कि जिस चीज में मनुष्य के प्यारे हाथ लगते हैं, उसमें हृदय का प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और उसमें मुर्दे को जिंदा करने की शक्ति आ जाती है। होटल में बने हुए भोजन यहाँ नीरस होते हैं, क्योंकि वहाँ मनुष्य मशीन बना दिया जाता है। परंतु अपनी प्रियतमा के हाथ से बने हुए रूखे सूखे भोजन में कितना रस होता है। जिस मिट्टी के घड़े को कधों पर उठाकर मीलों दूर से उसमें मेरी प्रेममग्न प्रियतमा ठंढा जल भर लाती है, उस लाल घड़े का जल जब मैं पीता हूँ तब जल क्या पीता हू, अपनी प्रेयसी के प्रेमामृत को पान करता हूँ। जो ऐसा प्रेम-प्याला पीता हो उसके लिये शराब क्या वस्तु है ? प्रेम से जीवन सदा गद्गद रहता है। मैं अपनी प्रेयसी की ऐसी प्रेमभरी, रसभरी, दिलभरी सेवा का बदला क्या कभी दे सकता हूँ ?

उधर प्रभात ने अपनी सुफेद किरणों से अँधेरे रात पर सफेदी सी छिटकाई, इधर मेरी प्रेयसी, मैना अथवा कोयल की तरह, अपने बिस्तर से उठी। गाय का बछड़ा खोला; दूध की धारों से अपना कटोरा भर लिया। गाते गाते अन्न को अपने हाथों से पीसकर सुफेद आटा बना लिया। इस सुफेद आटे से भरी हुई छोटी सी टोकरी सिर पर; एक हाथ में दूध से भरा हुआ लाल मिट्टी का कटोरा; दूसरे हाथ में

मक्खन की हाँड़ी। जब मेरी प्रिया घर की छत के नीचे इस तरह खड़ी होती है तब वह छत के ऊपर की श्वेत प्रभा से भी अधिक आनंददायक, बलदायक, बुद्धिदायक जान पड़ती है। उस समय वह उस प्रभा से भी अधिक रसीली, अधिक रँगीली, जीतीजागती, चैतन्य और आनदमयी प्रातःकालीन शोभा सी लगती है। मेरी प्रिया अपने हाथ से चुनी हुई लकड़ियों को अपने दिल से चुराई हुई एक चिनगारी से लाल अग्नि में बदल देती है। जब वह आटे को छलनी से छानती है तब मुझे उसकी छलनी के नीचे एक अद्भुत ज्योति की लौ नजर आती है। जब वह उस अग्नि के ऊपर मेरे लिए रोटी बनाती है तब उसके चूल्हे के भीतर मझे तो पूर्व दिशा की नभोलालिमा से भी अधिक आनंद-दायिनी लालिमा देख पड़ती है। यह रोटी नहीं, कोई अमूल्य पदार्थ है। मेरे गुरु ने इसी प्रेम से संयम करने का नाम योग रखा है। मेरा वही योग है।

मजदूरी और कला

आदमियों की तिजारत करना मूर्खों का काम है। सोने और लोहे के बदले मनुष्य को बेचना मना है। आजकल भाफ की कलों का दाम तो हजारों रुपया है, परंतु मनुष्य कौड़ी के सौ सौ बिकते है। सोने और चाँदी की प्राप्ति से जीवन का आनंद नहीं मिल सकता। सच्चा आनद तो मुझे मेरे काम से मिलता है मुझे अपना काम मिल जाय तो

फिर स्वर्गप्राप्ति की इच्छा नहीं, मनुष्यपूजा ही सच्ची ईश्वर-पूजा है। मंदिर और गिरजे में क्या रखा है? ईंट, पत्थर चूना कुछ ही कहो—आज से हम अपने ईश्वर की तलाश मंदिर, मसजिद, गिरजा और पोथी में न करेंगे। अब तो यदि इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन करेंगे। यही आर्ट है—यही धर्म है। मनुष्य के हाथ ही से तो ईश्वर के दर्शन करानेवाले निकलते हैं। मनुष्य और मनुष्य की मजदूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है। बिना काम, बिना मजदूरी, बिना हाथ के कलाकौशल के विचार और चिंतन किस काम के। सभी देशों के इतिहासों से सिद्ध है कि निकम्मे पादड़ियों, मौलवियों, पंडितों और साधुओं का, दान के अन्न पर पला हुआ ईश्वरचिंतन, अंत में पाप, आलस्य और भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है। जिन देशों में हाथ और मुँह पर मजदूरी की धूल नहीं पड़ने पाती वे धर्म और कलाकौशल मे कभी उन्नति नहीं कर सकते। पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके हैं। वही आसन ईश्वर-प्राप्ति करा सकते हैं जिनसे जोतने, बोने, काटने और मजदूरी का काम लिया जाता है। लड़की, ईंट और पत्थर को मूर्तिमान् करनेवाले लुहार, बढ़ई, मेमार तथा किसान आदि वैसे ही पुरुष हैं जैसे कि कवि, महात्मा और योगी आदि। उत्तम से उत्तम और नीच से नीच काम, सबके सब प्रेमशरीर के अंग हैं।

निकम्मे रहकर मनुष्यों की चिंतनशक्ति थक गई है। बिस्तरों और आसनों पर सोते और बैठे मन के घोड़े हार गए है। सारा जीवन निचुड़ चुका है। स्वप्न पुराने हो चुके हैं। आजकल की कविता मे नयापन नहीं। उसमें पुराने जमाने की कविता की पुनरावृत्ति मात्र है। इस नकल में असल की पवित्रता और कुँवारेपन का अभाव है। अब तो एक नए प्रकार का कला-कौशल-पूर्ण संगीत साहित्यसंसार में प्रचलित होनेवाला है। यदि वह न प्रचलित हुआ तो मशीनों के पहियों के नीचे दबकर हमे मरा समझिए। यह नया साहित्य मजदूरों के हृदय से निकलेगा। उन मजदूरों के कंठ से यह नई कविता निकलेगी जो जीवन आनंद के साथ खेत की मेड़ों का, कपड़े के तागों का, जूते के टाँकों का, लकड़ी की रगों का, पत्थर की नसों का भेदभाव दूर करेंगे। हाथ मे कुल्हाड़ी, सिर पर टोकरी, नगे सिर और नगे पाँव, धूल से लिपटे और कीचड़ से रँगे हुए ये बेजबान कवि जब जगल में लकड़ी काटेंगे तब लकड़ी काटने का शब्द इनके असभ्य स्वरों से मिश्रित होकर वायुयान पर चढ़ दशों दिशाओं में ऐसा अद्भुत गान करेगा कि भविष्यत् के कलावतों के लिये वही ध्रुपद और मलार का काम देगा। चरखा कातनेवाली स्त्रियों के गीत ससार के सभी देशों के कौमी गीत होंगे। मजदूरों की मजदूरी ही यथार्थ पूजा होगी। कलारूपी धर्म की तभी वृद्धि होगी। तभी नए कवि पैदा होंगे; तभी नए औलियों

का उद्भव होगा। परंतु ये सब के सब मजदूरी के दूध से पलेंगे। धर्म, योग, शुद्धाचरण, सभ्यता और कविता आदि के फूल इन्हीं मजदूरऋषियों के उद्यान मे प्रफुल्लित होंगे।

मजदूरी और फकीरी

मजदूरी और फकीरी का महत्व थोड़ा नहीं। मजदूरी और फकीरी मनुष्य के विकास के लिये परमावश्यक हैं। बिना मजदूरी किए फकीरी का उच्च भाव शिथिल हो जाता है; फकीरी भी अपने आसन से गिर जाती है; बुद्धि बासी पड़ जाती है। बासी चीजें अच्छी नहीं होतीं। कितने ही, उम्र भर, बासी बुद्धि और बासी फकीरी में मग्न रहते हैं; परंतु इस तरह मग्न होना किस काम का? हवा चल रही है; जल बह रहा है; बादल बरस रहा है; पक्षी नहा रहे हैं, फूल खिल रहा है, घास नई, पेड़ नए, पत्ते नए—मनुष्य की बुद्धि और फकीरी ही बासी! ऐसा दृश्य तभी तक रहता है जब तक बिस्तर पर पड़े पड़े मनुष्य प्रभात का आलस्यसुख मनाता है। बिस्तर से उठकर जरा बाग की सैर करो, फूलों की सुगध लो, ठंढी वायु में भ्रमण करो, वृक्षों के कोमल पल्लवों का नृत्य देखो तो पता लगे कि प्रभातसमय जागना बुद्धि और अंतःकरण को तरो ताजा करना है, और बिस्तर पर पड़े रहना उन्हें बासी कर देना है। निकम्मे बैठे हुए चिंतन करते रहना, अथवा बिना काम किए शुद्ध विचार का दावा करना, मानों

सोते सोते खर्राटे मारना है। जब तक जीवन के अरण्य में पादड़ी, मौलवी, पंडित और साधु संन्यासी हल, कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे तब तक उसका आलस्य जाने का नहीं, तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि, अनंत काल बीत जाने तक, मलिन मानसिक जुआ खेलती ही रहेगी। उनका चिंतन बासी, उनका ध्यान बासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनके लेख बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया है। इसमें संदेह नहीं कि इस साल के गुलाब के फूल भी वैसे ही हैं जैसे पिछले साल के थे। परंतु इस साल-वाले ताजे है। इनकी लाली नई है, इनकी सुगंध भी इन्हीं की अपनी है। जीवन के नियम नहीं पलटते; वे सदा एक ही से रहते हैं। परंतु मजदूरी करने से मनुष्य को एक नया और ताजा खुदा नजर आने लगता है।

गेरुए वस्त्रों की पूजा क्यों करते हो? गिरजे की घंटी क्यों सुनते हो? रविवार क्यों मनाते हो? पाँच वक्त की नमाज क्यों पढ़ते हो? त्रिकाल संध्या क्यों करते हो? मजदूर के अनाथ नयन, अनाथ आत्मा और अनाश्रित जीवन की बोली सीखो। फिर देखोगे कि तुम्हारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय भजन हो गया।

मजदूरी तो मनुष्य के समष्टिरूप का व्यष्टिरूप परिणाम है, आत्मारूपी धातु के गढ़े हुए सिक्के का नकदी बयाना है, जो मनुष्यों की आत्माओं को खरीदने के वास्ते दिया जाता है।

सच्ची मित्रता ही तो सेवा है। उससे मनुष्यों के हृदय पर सच्चा राज्य हो सकता है। जातिपाँति, रूप-रंग और नाम धाम तथा बापदादे का नाम पूछे बिना ही अपने आपको किसी के हवाले कर देना प्रेमधर्म का तत्व है। जिस समाज में इस तरह के प्रेमधर्म का राज्य होता है उसका हर कोई हर किसी का बिना उसका नामधाम पूछे ही पहचानता है; क्योंकि पूछने-वाले का कुल और उसकी जात वहाँ वही होती है जो उसकी, जिससे कि वह मिलता है। वहाँ सब लोग एक ही माता-पिता से पैदा हुए भाईबहन हैं। अपने ही भाईबहनो के मातापिता का नाम पूछना क्या पागलपन से कम समझा जा सकता है? यह सारा संसार एक कुटुंबवत् है। लँगड़े, लूले, अंधे और बहरे उसी मौरूसी घर की छत के नीचे रहते है जिसकी छत के नीचे बलवान, नीरोग और रूपवान् कुटुंबी रहते हैं। मूढ़ों और पशुओं का पालनपोषण बुद्धिमान्, सबल और निरोग ही तो करेंगे। आनंद और प्रेम की राजधानी का सिंहासन सदा से प्रेम और मजदूरी के ही कधों पर रहता आया है। कामनासहित होकर भी मजदूरी निष्काम होती है; क्योंकि मजदूरी का बदला ही नहीं। निष्काम कर्म करने के लिये जो उपदेश दिए जाते हैं उनमें अभावशील वस्तु सुभावपूर्ण मान ली जाती है। पृथ्वी अपने ही अक्ष पर दिनरात घूमती है। यह पृथ्वी का स्वार्थ कहा जा सकता है परंतु उसका यह घूमना सूर्य के इर्दगिर्द घूमना तो है और सूर्य के इर्द

गिर्द घूमना सूर्यमडल के साथ आकाश में एक सीधी लकीर पर चलना है। अत मे, इसका गोल चक्कर खाना सदा ही सीधा चलना है। इसमे स्वार्थ का अभाव है। इसी तरह मनुष्य की विविध कामनाएँ उसके जीवन को मानों उसके स्वार्थरूपी धुरे पर चक्कर देती हैं। परतु उसका जीवन अपना तो है ही नहीं; वह तो किसी आध्यात्मिक सूर्यमडल के साथ की चाल है और अततः यह चाल जीवन का परमार्थ रूप है। स्वार्थ का यहाँ भी अभाव है। जब स्वार्थ कोई वस्तु ही नहीं तब निष्काम और कामनापूर्ण कर्म करना दोनों ही एक बात हुई। इसलिये मजदूरी और फकीरी का अन्योन्याश्रय सबंध है।

मजदूरी करना जीवनयात्रा का आध्यात्मिक नियम है। जोन आफ् आर्क (Joan of Arc) की फकीरी और भेड़ें चराना, टाल्स्टाय का त्याग और जूते गाँठना, उमर खैयाम का प्रसन्नतापूर्वक तबू सीते फिरना, खलीफा उमर का अपने रगमहलों में चटाई आदि बुनना, ब्रह्मज्ञानी कबीर और रैदास का शूद्र होना, गुरु नानक और भगवान् श्रीकृष्ण का मूक पशुओं को लाठी लेकर हाँकना—सच्ची फकीरी का अनमोल भूषण है।

समाज का पालन करनेवाली दूध की धारा

एक दिन गुरु नानक यात्रा करते करते भाई लालो नाम के एक बढ़ई के घर ठहरे। उस गाँव का भागो नामक रईस बड़ा मालदार था। उस दिन भागो के घर ब्रह्मभोज था।

दूर दूर से साधु आए हुए थे। गुरु नानक का आगमन सुनकर भागो ने उन्हें भी निमंत्रण भेजा। गुरु ने भागो का अन्न खाने से इनकार कर दिया। इस बात पर भागो को बड़ा क्रोध आया। उसने गुरु नानक को बलपूर्वक पकड़ मँगाया और उनसे पूछा—आप मेरे यहाँ का अन्न क्यों नहीं ग्रहण करते? गुरुदेव ने उत्तर दिया—भागो, अपने घर का हलवा पूरा ले आओ तो हम इसका कारण बतला दें। वह हलवा पूरी लाया तो गुरु नानक ने लालो के घर से भी उसके मोटे अन्न की रोटी मँगवाई। भागो को हलवा पूरी उन्होंने एक हाथ में और भाई लालो की मोटी रोटी दूसरे हाथ में लेकर दोनों को जो दबाया तो एक से लोहू टपका और दूसरी से दूध की धारा निकली। बाबा नानक का यही उपदेश हुआ। जो धारा भाई लालो की मोटी रोटी से निकली थी वही समाज का पालन करनेवाली दूध की धारा है। यही धारा शिव जी की जटा से और यही धारा मजदूरों की उँगलियों से निकलती है।

मजदूरी करने से हृदय पवित्र होता है; संकल्प दिव्य लोकांतर में विचरते हैं। हाथ की मजदूरी ही से सच्चे ऐश्वर्य की उन्नति होती है। जापान में मैंने कन्याओं और स्त्रियों को ऐसी कलावती देखा है कि वे रेशम के छोटे छोटे टुकड़ों को अपनी दस्तकारी की बदौलत हजारों की कीमत का बना देती हैं; नाना प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों और दृश्यों को अपनी सुई से कपड़े के ऊपर अंकित कर देती हैं। जापाननिवासी

कागज, लकड़ी और पत्थर की बड़ी अच्छी मूर्तियाँ बनाते हैं। करोड़ों रुपए के हाथ के बने हुए जापानी खिलौने विदेशों में बिकते हैं। हाथ की बनी हुई जापानी चीजें मशीन से बनी हुई चीजों को मात करती हैं। ससार के सब बाजारों में उनकी बड़ी माँग रहती है। पश्चिमी देशों के लोग हाथ की बनी हुई जापान की अद्भुत वस्तुओं पर जान देते हैं। एक जापानी तत्वज्ञानी का कथन है कि हमारी दस करोड़ उँगलियाँ सारे काम करती हैं। इन उँगलियों ही के बल से, संभव है हम जगत् को जीत लें। ("We shall beat the world with the tips of our fingers") जब तक धन और ऐश्वर्य की जन्मदात्री हाथ की कारीगरी की उन्नति नहीं होती तब तक भारतवर्ष ही को क्या किसी भी देश या जाति की दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। यदि भारत की तीस करोड नर नारियों की उँगलियाँ मिलकर कारीगरी के काम करने लगें तो उनकी मजदूरी की बदौलत कुबेर का महल उनके चरणों में आप ही आप आ गिरे।

अन्न पैदा करना, तथा हाथ की कारीगरी और मिहनत से जड़ पदार्थों को चैतन्य चिह्न से सुसज्जित करना, क्षुद्र पदार्थों को अमूल्य पदार्थों में बदल देना इत्यादि कौशल ब्रह्मरूप हो-कर धन और ऐश्वर्य की सृष्टि करते हैं। कविता, फकीरी और साधुता के ये दिव्य कलाकौशल जीते जागते और हिलते डुलते प्रतिरूप हैं। इनकी कृपा से मनुष्य जाति का कल्याण

होता है। ये उस देश मे कभी निवास नहीं करते जहाँ मज-दूर और मजदूर की मजदूरी का सत्कार नहीं होता, जहाँ शूद्र की पूजा नहीं होती। हाथ से काम करनेवालों मे प्रेम रखने और उनकी आत्मा का सत्कार करने से साधारण मजदूरी सुंदरता का अनुभव करानेवाले कलाकौशल, अर्थात् कारीगरी का रूप हो जाता है। इस देश मे जब मजदूरी का आदर होता था तब इसी आकाश के नीचे बैठे हुए मजदूरों के हाथों ने भगवान् बुद्ध के निर्वाणसुख को पत्थर पर इस तरह जड़ा था कि इतना काल बीत जाने पर, पत्थर की मूर्ति के ही दर्शन से ऐसी शांति होती है जैसी कि स्वयं भगवान् बुद्ध के दर्शन से होती है। मुँह, हाथ, पाँव इत्यादि का गढ़ देना साधारण मजदूरी है; परंतु मन के गुप्त भावों और अंतःकरण की कोमलता तथा जीवन की सभ्यता को प्रत्यक्ष प्रकट कर देना प्रेम मजदूरी है। शिव जी के तांडव नृत्य को और पार्वती जी के मुख की शोभा को पत्थरों की सहायता से वर्णन करना जड़ को चैतन्य बना देना है। इस देश में कारीगरी का बहुत दिनों से अभाव है। महमूद ने जो सोम-नाथ के मंदिर में प्रतिष्ठित मूर्तियाँ तोड़ी थीं उससे उसकी कुछ भी वीरता सिद्ध नहीं होती। उन मूर्तियों को तो हर कोई तोड़ सकता था। उसकी वीरता की प्रशंसा तब होती जब वह यूनान की प्रेममजदूरी, अर्थात् वहाँवालों के हाथ की अद्वितीय कारी-गरी प्रकट करनेवाली मूर्तियाँ तोड़ने का साहस कर सकता। वहाँ की मूर्तियाँ बोल रही हैं—वे जीती जागती हैं, मुर्दा

नहीं। इस समय के देवस्थानों में स्थापित मूर्तियाँ देखकर अपने देश की आध्यात्मिक दुर्दशा पर लज्जा आती है। उनसे तो यदि अनगढ़ पत्थर रख दिए जाते तो अधिक शोभा पाते। जब हमारे यहाँ के मजदूर, चित्रकार तथा लकड़ी और पत्थर पर काम करनेवाले भूखों मरते हैं तब हमारे मंदिरों की मूर्तियाँ कैसे सुंदर हो सकती हैं? ऐसे कारीगर तो यहाँ शूद्र के नाम से पुकारे जाते हैं। याद रखिए, बिना शूद्रपूजा के मूर्तिपूजा किंवा कृष्ण और शालग्राम की पूजा होना असभव है। सच तो यह है कि हमारे सारे धर्म कर्म बासी ब्राह्मणत्व के छिछोरेपन से दरिद्रता को प्राप्त हो रहे हैं। यही कारण है जो आज हम जातीय दरिद्रता से पीड़ित हैं।

पश्चिमी सभ्यता का एक नया आदर्श

पश्चिमी सभ्यता मुख मोड़ रही है। वह एक नया आदर्श देख रही है। अब उसकी चाल बदलने लगी है। वह कलों की पूजा को छोड़कर मनुष्यों की पूजा को अपना आदर्श बना रही है। इस आदर्श के दर्शानेवाले देवता रस्किन और टाल्सटाय आदि हैं। पाश्चात्य देशों में नया प्रभात होनेवाला है। वहाँ के गभीर विचारवाले लोग इस प्रभात का स्वागत करने के लिये उठ खडे हुए हैं। प्रभात होने के पूर्व ही उसका अनुभव कर लेनेवाले पक्षियों की तरह इन महात्माओं को इस नए प्रभात का पूर्वज्ञान हुआ है। और,

हो क्यों न? इंजनों के पहियों के नीचे दबकर, वहाँवालों के भाई बहन—नहीं नहीं, उनकी सारी जाति—पिस गई; उनके जीवन के धुरे टूट गए; उनका समस्त धन घरों मे निकलकर एक ही दो स्थानों में एकत्र हो गया। साधारण लोग मर रहे हैं; मजदूरों के हाथ पाँव फट रहे है; लहू चल रहा है! सरदी से ठिठुर रहे हैं। एक तरफ दरिद्रता का अखंड राज्य है; दूमरी तरफ अमीरी का चरम दृश्य। परँतु अमीरी भी मानसिक दुःखों से विमर्दित है। मशीनें बनाई तो गई थीं मनुष्यों का पेट भरने के लिये—मजदूरों को सुख देने के लिये—परंतु वे काली काली मशीनें ही काली बनकर उन्हीं मनुष्यों का भक्षण कर जाने के लिये मुख खोल रही हैं। प्रभात होने पर ये काली काली बलाएँ दूर होंगी। मनुष्य के सौभाग्य का सूर्योदय होगा।

शोक का विषय है कि हमारे और अन्य पूर्वी देशों में लोगों को मजदूरी से तो लेशमात्र भी प्रेम नहीं, पर वे तैयारी कर रहे हैं पूर्वोक्त काली मशीनों का आलिंगन करने की। पश्चिमवालों के तो ये गले पड़ी हुई बहती नदी की काली कमली हो रही हैं। वे छोड़ना चाहते हैं, परंतु काली कमली उन्हे नहीं छोड़ती। देखेंगे, पूर्ववाले इस कमली को छाती से लगाकर कितना आनंद अनुभव करते हैं। यदि हममें से हर आदमी अपनी दस उँगलियों की सहायता से साहसपूर्वक अच्छी तरह काम करे तो हमीं मशीनों की कृपा से बढे हुए

परिश्रमवालों को, वाणिज्य के जातीय संग्राम में सहज ही पछाड़ सकते हैं। सूर्य तो सदा पूर्व ही से पश्चिम की ओर जाता है। पर, आओ पश्चिम में आनेवाली सभ्यता के नए प्रभात को हम पूर्व से भेजें।

इंजनों की वह मजदूरी किस काम की जो बच्चों, स्त्रियों और कारीगरों को ही भूखा नंगा रखती है, और केवल सोने चाँदी, लोहे आदि धातुओं का ही पालन करती है। पश्चिम को विदित हो चुका है कि इनसे मनुष्य का दुःख दिन पर दिन बढ़ता है। भारतवर्ष जैसे दरिद्र देश में मनुष्य के हाथों की मजदूरी के बदले कलों से काम लेना काल का डंका बजाना होगा। दरिद्र प्रजा और भी दरिद्र होकर मर जायगी। चेतन से चेतन की वृद्धि होती है। मनुष्य को तो मनुष्य ही सुख दे सकता है। परस्पर की निष्कपट सेवा ही से मनुष्य जाति का कल्याण हो सकता है। धन एकत्र करना तो मनुष्य जाति के आनंदमंगल का एक साधारण सा और महा तुच्छ उपाय है। धन की पूजा करना नास्तिकता है; ईश्वर को भूल जाना है; अपने भाई बहनों तथा मानसिक सुख और कल्याण के देनेवालों को मारकर अपने सुख के लिये शारीरिक राज्य की इच्छा करना है; जिस डाल पर बैठे हैं उसी डाल को स्वयं ही कुल्हाड़े से काटना है। अपने प्रिय जनों से रहित राज्य किस काम का? प्यारी मनुष्य जाति का सुख ही जगत् के मंगल का मूल साधन है। बिना उसके

सुख के अन्य सारे उपाय निष्फल हैं। धन की पूजा से ऐश्वर्य, तेज, बल और पराक्रम नहीं प्राप्त होने का। चैतन्य आत्मा की पूजा से ही ये पदार्थ प्राप्त होते हैं। चैतन्यपूजा ही से मनुष्य का कल्याण हो सकता है। समाज का पालन करनेवाली दूध की धारा जब मनुष्य के प्रेममय हृदय, निष्कपट मन और मित्रतापूर्ण नेत्रों से निकलकर बहती है तब वही जगत् मे सुख के खेतों को हरा भरा और प्रफुल्लित करती है और वही उनमें फल भी लगाती है। आओ, यदि हो सके तो, टोकरी उठाकर कुदाली हाथ में लें। मिट्टी खादें और अपने हाथ से उसके प्याले बनावें। फिर एक प्याला घर घर मे, कुटिया कुटिया में रख आवें और सब लोग उसी में मजदूरी का प्रेमामृत पान करें।

> है रीत आशकों की तन मन निसार करना।
> रोना सितम उठाना और उनको प्यार करना॥

———

कवि और कविता

[पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी]

यह बात सिद्ध समझी गई है कि कविता अभ्यास से नहीं आती। जिसमें कविता करने का स्वाभाविक माद्दा होता है वही कविता कर सकता है। देखा गया है कि जिस विषय पर बड़े बड़े विद्वान् अच्छी कविता नहीं कर सकते उसी पर अपढ़ और कम उम्र के लड़के कभी कभी अच्छी कविता लिख देते हैं। इससे स्पष्ट है कि किसी किसी में कविता लिखने की इस्तेदाद स्वाभाविक होती है, ईश्वरदत्त होती है। जो चीज ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी, वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को अवश्य कुछ न कुछ लाभ पहुँचता है।

कविता यदि यथार्थ में कविता है तो सम्भव नहीं कि उसे सुनकर सुननेवाले पर कुछ असर न हो। कविता से दुनिया में आज तक बहुत बड़े बड़े काम हुए हैं। अच्छी कविता सुनकर कवितागत रस के अनुसार दुःख, शोक, क्रोध, करुणा, जोश आदि भाव पैदा हुए बिना नहीं रहते, और जैसा भाव पैदा होता है कार्य के रूप में फल भी वैसा ही होता है। हम लोगों में पुराने जमाने में भाट चारण आदि अपनी कविता ही की बदौलत वीरों में वीरता का संचार कर देते थे। पुराणादि में कारुणिक प्रसगों का वर्णन सुनने और उत्तर राम-

चरित आदि दृश्य काव्यों का अभिनय देखने से जो अश्रुपात होने लगता है वह क्या है? वह अच्छी कविता ही का प्रभाव है।

रोम, इँगलैंड, अरब, फारस आदि देशों में इस बात के सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं कि कवियों ने असंभव बातें संभव कर दिखाई हैं। जहाँ पस्तहिम्मती का दौरदौरा था वहाँ गदर मचा दिया है। अतएव कविता एक असाधारण चीज है। परन्तु बिरले ही को सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त होता है। जब तक ज्ञानवृद्धि नहीं होती—जब तक सभ्यता का जमाना नहीं आता—तभी तक कविता की विशेष उन्नति होती है, क्योंकि सभ्यता और कविता मे परस्पर विरोध है*। सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम हो जाता है। कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश जरूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्धसभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण के खास खास स्थलों का स्त्रियों पर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना पढ़े लिखे आदमियों पर नहीं। पुराने काव्यों को पढ़ने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था उतना अब नहीं होता। हजारों वर्ष से कविता का क्रम जारी है। जिन प्राकृतिक बातों का वर्णन अब तक बहुत कुछ हो चुका

* देखो लार्ड मैकाले (Macaulay) की प्रसिद्ध उक्ति "As Civilization advanses Poetry declines."

है, प्रायः उन्हीं बातों का वर्णन जो नए कवि होते हैं ये भी उलट-फेर से करते हैं, इसी से अब कविता कम हृदयग्राहिणी होती है।

संसार में जो बात जैसी देख पड़े कवि को उसे वैसे ही वर्णन करनी चाहिए। उसके लिये किसी तरह की रोक या पाबंदी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन में जो भाव आप ही आप पैदा होते हैं उन्हें जब वह निडर होकर अपनी कविता में प्रगट करता है तभी उसका पूरा पूरा असर लोगों पर पड़ता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है। किसी राजा या व्यक्ति विशेष के गुणदोषों को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों उन्हें यदि वह बे रोकटोक प्रकट कर दे तो उसकी कविता हृदय-द्रावक हुए बिना न रहे। परंतु परतन्त्रता या पुरस्कारप्राप्ति या और किसी तरह की रुकावट पैदा हो जाने से यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो कविता का रस जरूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस, अतएव प्रभावहीन, हो जाती है। सामाजिक और राजनैतिक विषयों में कटु होने से सच कहना भी जहाँ मना है, वहाँ इन विषयों पर कविता करनेवाले कवियों की युक्तियों का प्रभाव क्षीण हुए बिना नहीं रहता। कवि के लिये कोई रोक न होनी चाहिए। अथवा जिस विषय में रोक हो उस विषय पर कविता ही न लिखनी चाहिए। नदी, तालाब, वन,

पर्वत, फूल, पत्ती, गरमी, सरदी आदि ही के वर्णन से उसे संतोष करना उचित है।

खुशामद के जमाने में कविता की बुरी हालत होती है! जो कवि राजाओं, नवाबों या बादशाहों के आश्रय मे रहते हैं, अथवा उनको खुश करने के इरादे से कविता करते है, उनको खुशामद करनी पड़ती है; वे अपने आश्रयदाताओं की इतनी प्रशंसा करते हैं, इतनी स्तुति करते हैं, कि उनकी उक्तियाँ असलियत से दूर जा पडती हैं। इससे कविता को बहुत हानि पहुँचती है। विशेष करके शिक्षित और सभ्य देशों मे कवि का काम प्रभावोत्पादक रीति से यथार्थ घटनाओं का वर्णन करना है, आकाशकुसुमों के गुलदस्ते तैयार करना नहीं। अलंकारशास्त्र के आचार्यों ने अतिशयोक्ति एक अलंकार जरूर माना है; परंतु अभावोक्तियाँ भी क्या कोई अलकार हैं? किसी कवि की वे सिरपैर की बातें सुनकर किस समझदार आदमी को आनदप्राप्ति हो सकती है? जिस समाज के लोग अपनी झूठी प्रशसा सुनकर प्रसन्न होते हैं वह समाज प्रशसनीय नहीं समझा जाता।

कारणवश अमीरों की प्रशंसा करने अथवा किसी एक ही विषय की कविता मे कविसमुदाय के आजन्म लगे रहने से, कविता की सीमा कट छँटकर बहुत थोड़ी रह जाती है। इसी तरह की कविता उर्दू में बहुत अधिक है। यदि यह कहें कि आशिकाना (शृंगारिक) कविता के सिवा और तरह

की कविता उर्दू मे है ही नहीं, तो बहुत बड़ी अत्युक्ति न होगी। किसी दीवान को उठाइए, आशिक-माशूकों के रंगीन रहस्यों से आप उसे आरभ से अंत तक रँगा हुआ पाइएगा। इश्क भी यदि सच्चा हो तो कविता में कुछ असलियत आ सकती है। पर क्या कोई कह सकता है कि आशिकाना शेर कहनेवालो का सारा रोना, कराहना, ठढी साँसें लेना, जीते ही अपनी कब्रों पर चिराग जलाना सब सच है? सब न सही, उनके प्रलापों का क्या थोड़ा सा भी अंश सच है? फिर इस तरह की कविता सैकड़ों वर्ष से होती आ रही है। अनेक कवि हो चुके, जिन्होंने इस विषय पर न मालूम क्या क्या लिख डाला है। इस दशा में नए कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं? वही तुक, वही छद, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक! इस पर भी लोग पुरानी लकीर को बरा-बर पीटते जाते हैं। कवित्त, सवैए, घनाक्षरी, दोहे, सोरठे लिखने से बाज नहीं आते। नखसिख, नायिकाभेद, अलं-कारशास्त्र पर पुस्तकों पर पुस्तकें लिखते चले जाते हैं! अपनी व्यर्थ, बनावटी बातों से देवीदेवताओं तक को बदनाम करने से नहीं सकुचते। फल इसका यह हुआ है कि असलियत काफूर हो गई है।

कविता के बिगड़ने और उसकी सीमा परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है। वह बरबाद हो जाता है। भाषा में दोष आ जाता है। जब कविता की प्रणाली

बिगड़ जाती है तब उसका असर सारे ग्रंथकारों पर पड़ता है। यही क्यों, सर्वसाधारण की बोलचाल तक में कविता के दोष आ जाते हैं। जिन शब्दों, जिन भावों, जिन उक्तियों का प्रयोग कवि करते हैं उन्हीं का प्रयोग और लोग भी करने लगते हैं। भाषा और बोलचाल के संबंध में कवि ही प्रमाण माने जाते हैं। कवियों ही के प्रयुक्त शब्दों और मुहावरों को कोशकार अपने कोशों में रखते हैं। मतलब यह कि भाषा और बोलचाल का बनाना या बिगाड़ना प्रायः कवियों ही के हाथ मे रहता है। जिस भाषा के कवि अपनी कविता में बुरे शब्द और बुरे भाव भरते रहते हैं उस भाषा की उन्नति तो होती नहीं, उलटा अवनति होती जाती है।

कविताप्रणाली के बिगड़ जाने पर यदि कोई नए तरह की स्वाभाविक कविता करने लगता है तो लोग उसकी निंदा करते हैं। कुछ नासमझ और नादान आदमी कहते हैं, यह बड़ी भद्दी कविता है। कुछ कहते हैं, यह कविता ही नहीं। कुछ कहते हैं कि यह कविता तो "छंदप्रभाकर" में दिए गए लक्षणों से च्युत है, अतएव यह निर्दोष नहीं। बात यह है कि वे जिसे अब तक कविता कहते आए हैं वही उनकी समझ में कविता है और सब कोरी काँव काँव! इसी तरह की नुकताचीनी से तंग आकर अँगरेजी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपनी कविता को संबोधन करके उसकी सांत्वना की है। वह कहता है—"कविते! यह बेकदरी का जमाना है। लोगों के चित्त

का तेरी तरफ खिचना तो दूर रहा, उलटा सब कहीं तेरी निंदा होती है। तेरी बदौलत सभा समाजों और जलसों मे मुझे लज्जित होना पड़ता है। पर जब मैं अकेला होता हूँ तब तुझ पर घमंड करता हूँ। याद रख, तेरी उत्पत्ति स्वाभाविक है। जो लोग अपने प्राकृतिक बल पर भरोसा रखते हैं वे निर्धन होकर भी आनंद से रह सकते हैं। पर अप्राकृतिक बल पर किया गया गर्व कुछ दिन बाद जरूर चूर्ण हो जाता है।" गोल्डस्मिथ ने इस विषय पर बहुत कुछ कहा है। इससे प्रकट है कि नई कविताप्रणाली पर भ्रकुटी टेढ़ी करनेवाले कवि प्रकाण्डों के कहने की कुछ भी परवा न करके अपने स्वीकृत पथ से जरा भी इधर उधर होना उचित नहीं।

आज कल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज समझ रखा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वही भेद है जो 'पोयट्री' (Poetry) और 'वर्स' (Verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है, और नियमानुसार तुली हुई सतरों का पद्य है। जिस पद्य के पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता वह कविता नहीं। वह नपी तुली शब्दस्थापना मात्र है। गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है। तुकबंदी और अनुप्रास कविता के लिये अपरिहार्य नहीं। संस्कृत का प्रायः सारा पद्यसमूह बिना तुकबंदी का है। और संस्कृत से बढ़ कर कविता शायद ही किसी भाषा में हो। अरब में भी

सैकड़ो अच्छे, अच्छे कवि हो गए हैं। वहाँ भी शुरू शुरू में तुकबन्दी का बिलकुल खयाल नहीं था। अँगरेजी में भी अनु-प्रास हीन बेतुकी कविता होती है। हाँ, एक बात जरूर है कि वजन और काफिए से कविता अधिक चित्ताकर्षक हो जाती है *। पर कविता के लिये ये बातें ऐसी हैं जैसे कि शरीर के लिये वस्त्राभरण। यदि कविता का प्रधान धर्म मनोरंजकता और प्रभावोत्पादकता उसमें न हो तो इनका होना निष्फल समझना चाहिए। पद्य के लिये काफिए वगैरह की जरूरत है, कविता के लिये नहीं। कविता के लिये तो ये बातें एक प्रकार से उलटा हानिकारक हैं। तुले हुए शब्दों में कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि ढूँढ़ने से कवियों के विचार-स्वातंत्र्य में बड़ी बाधा आती है। पद्य के नियम कवि के लिये एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं। उनसे जकड़ जाने से कवियो को अपने स्वाभाविक उड्डान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनता-पूर्वक प्रकट करे। पर काफिया और वजन उसकी स्वाधीनता में विघ्न-डालते हैं। वे उसे अपने भावों को स्वतंत्रता से नहीं प्रकट करने देते। काफिए और वजन को पहले ढूँढ़कर कवि को अपने मनोभाव तदनुकूल गढ़ने पड़ते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि प्रधान बात अप्रधानता को प्राप्त हो जाती है

---

*Oscar Wilde तुकबंदी को A Spiritual element of thought and passion कहता है।

और एक बहुत ही गौण बात प्रधानता के आसन पर जा बैठती है। फल यह होता है कि कवि की कविता का असर कम हो जाता है।

जो बात एक असाधारण और निराले ढंग से शब्दों के द्वारा इस तरह प्रकट की जाय कि सुननेवालों पर उसका कुछ न कुछ असर जरूर पड़े, उसका नाम कविता है। आजकल हिंदी के पद्य रचयिताओं में कुछ ऐसे भी हैं जो अपने पद्यों को कालिदास, होमर और बाइरन की कविता से भी बढ़कर समझते हैं। कोई संपादक के खिलाफ नाटक, प्रहसन और व्यंग्यपूर्ण लेख प्रकाशित करके अपने जी की जलन शांत करते हैं।

कवि का सबसे बड़ा गुण नई नई बातों का सूझना है। उसके लिये इमैजिनेशन (imagination) की बड़ी जरूरत है। जिसमें जितनी भी अधिक यह शक्ति होगी वह उतनी ही अच्छी कविता कर सकेगा। कविता के लिये उपज चाहिए। नए नए भावों की उपज जिसके हृदय में नहीं होती वह कभी अच्छी कविता नहीं कर सकता। ये बातें प्रतिभा की बदौलत होती हैं, इसलिये संस्कृतवालों ने प्रतिभा को प्रधानता दी है। प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है, अभ्यास से वह नहीं प्राप्त होती। इस शक्ति को कवि माँ के पेट से लेकर पैदा होता है। उसी की बदौलत वह भूत और भविष्यत् को हस्तामलकवत् देखता है। वर्तमान की तो कोई बात ही नहीं। इसी की कृपा से वह सांसारिक बातों को एक अजीब निराले ढंग से बयान

करता है, जिसे सुनकर सुननेवालों के हृदयोदधि में नाना प्रकार के सुख, दुःख, आश्चर्य आदि विकारों की लहरें उठने लगती हैं। कवि कभी कभी ऐसी अद्भुत बातें कह देते हैं कि जो कवि नहीं हैं उनकी पहुँच वहाँ तक कभी हो ही नहीं सकती।

कवि का काम है कि वह प्रकृतिविकास को खूब ध्यान से देखे। प्रकृति की लीला का कोई ओर छोर नहीं। वह अनन्त है। प्रकृति अद्भुत अद्भुत खेल खेला करती है। एक छोटे से फूल में वह अजीब अजीब कौशल दिखलाती है। वे साधारण आदमियों के ध्यान में नहीं आते। वे उनको समझ नहीं सकते, पर कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति के कौशल अच्छी तरह से देख लेता है; उनका वर्णन भी वह करता है, उनसे नाना प्रकार की शिक्षा भी ग्रहण करता है। और अपनी कविता के द्वारा संसार को लाभ पहुँचाता है। जिस कवि में प्राकृतिक दृश्य और प्रकृति के कौशल देखने और समझने का जितना ही अधिक ज्ञान होता है वह उतना ही बड़ा कवि भी होता है। प्रकृतिपर्यालोचना के सिवा कवि को मानवस्वभाव की आलोचना का भी अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के सुख दुख आदि का अनुभव करता है। उसकी दशा कभी एक सी नहीं रहती। अनेक प्रकार के विकारतरंग उसके मन में उठा ही करते हैं। इन विकारों की जाँच, ज्ञान और अनुभव करना सबका काम नहीं। केवल कवि ही इनके अनु-

भव कराने मे समर्थ होता है। जिसे कभी पुत्रशोक नहीं हुआ उसे उस शोक का यथार्थ ज्ञान होना सभव नहीं। पर यदि वह कवि है तो वह पुत्रशोकाकुल पिता या माता की आत्मा में प्रवेश सा करके उसका अनुभव कर लेता है। उस अनुभव का वह इस तरह वर्णन करता है कि सुननेवाला तन्मनस्क होकर उस दुःख से अभिभूत हो जाता है। उसे ऐसा मालूम होने लगता है कि स्वयं उसी पर वह दुःख पड़ रहा है। जिस कवि को मनोविकारों और प्राकृतिक बातों का यथेष्ट ज्ञान नहीं होता वह कदापि अच्छा कवि नहीं हो सकता।

कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये उचित शब्द-स्थापना की भी बड़ी जरूरत है। किसी मनोविकार या दृश्य के वर्णन मे ढूँढ़ ढूँढ़कर ऐसे शब्द रखने चाहिएँ जो सुनने वालों की आँखों के सामने वर्ण्यविषय का एक चित्र सा खींच दें। मनोभाव चाहे कैसा ही अच्छा क्यों न हो यदि वह तदनुकूल शब्दो मे न प्रकट किया गया, तो उसका असर यदि जाता नहीं रहता तो कम जरूर हो जाता है। इसी लिये कवि को चुन चुनकर ऐसे शब्द रखना चाहिए और इस क्रम से रखना चाहिए, जिससे उसके मन का भाव पूरे तौर पर व्यक्त हो जाय। उसमें कसर न पड़े। मनोभाव शब्दों ही द्वारा व्यक्त होता है। अतएव सयुक्तिक शब्दस्थापना के बिना कवि की कविता तादृश हृदयहारिणी नहीं हो सकती। जो कवि अच्छी शब्दस्थापना करना नहीं जानता, अथवा यों कहिए कि जिसके

पास काफी शब्दसमूह नहीं है, उसे कविता करने का परिश्रम ही न करना चाहिए। जो सुकवि हैं उन्हें एक एक शब्द की योग्यता ज्ञात रहती है। वे खूब जानते हैं कि किस शब्द मे क्या प्रभाव है। अतएव जिस शब्द मे उनका भाव प्रकट करने की एक बाल भर भी कमी होती है उसका वे कभी प्रयोग नहीं करते।

अँगरेजी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कविता के तीन गुण वर्णन किए हैं। उनकी राय है कि कविता सादी हो, जोश से भरी हो और असलियत से गिरी हुई न हो* सादगी से यह मतलब नहीं कि सिर्फ शब्दसमूह ही सादा हो, किंतु विचार-परंपरा भी सादी हो। भाव और विचार ऐसे सूक्ष्म और छिपे हुए न हों कि उनका मतलब समझ में न आवे, या देर से समझ मे आवे। यदि कविता में कोई ध्वनि हो तो इतनी दूर की न हो कि उसे समझने में गहरे विचार की जरूरत हो। कविता पढ़ने या सुननेवाले को ऐसी साफ सुथरी सड़क मिलनी चाहिए जिस पर कंकर, पत्थर, टीले, खंदक, काँटे और झाड़ियों का नाम न हो। वह खूब साफ और हमवार हो जिससे उसपर चलनेवाला आराम से चला जाय। जिस तरह सड़क जरा भी ऊँची नीची होने से पैरगाड़ी के सवार को दचके लगते हैं उसी तरह कविता की सड़क यदि थोड़ी सी नाहमवार हुई तो पढ़नेवाले के हृदय पर धक्का लगे बिना

* "Poetry should be simple, sensuous and impassioned."

नहीं रहता। कवितारूपी सड़क के इधर उधर स्वच्छ पानी के नदी नाले बहते हों; दोनों तरफ फलोंफूलों से लदे हुए पेड़ हों, जगह जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हों; प्राकृतिक दृश्यों की नई नई झाँकियाँ आँखों को लुभाती हों। दुनिया में आज तक जितने अच्छे अच्छे कवि हुए हैं उनकी कविता ऐसी ही देखी गई है। अटपटे भाव और अटपटे शब्दप्रयोग करनेवाले कवियों की कभी क़द्र नहीं हुई। यदि कभी किसी की कुछ हुई भी है तो थोड़े ही दिन तक। ऐसे कवि विस्मृति के अंधकार मे ऐसे छिप गए हैं कि इस समय उनका कोई नाम तक नहीं जानता। एक मात्र सूखा शब्द झंकार ही जिन कवियों की करामात है उन्हे चाहिए कि वे एकदम ही बोलना बंद कर दें*। भाव चाहे कैसा ही ऊँचा क्यों न हो, पेचीदा न होना चाहिए। वह ऐसे शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाना चाहिए जिनसे सब लोग परिचित हों। क्योंकि कविता की भाषा बोलचाल से जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोलचाल से मतलब उस भाषा से है जिसे खास और आम सब बोलते हैं, विद्वान् और अविद्वान् दोनों जिसे काम में लाते हैं। इसी तरह कवि को मुहावरे का

---

* इस प्रकार कवियों के लिये अँगरेजी के प्रसिद्ध लेखक कारलाइल (Carlyle) की शिक्षा ध्यान देने योग्य है—"Why sing your bits of thought, if you can contrive to speak them? By your thought, not by yonr mode of delivering it, you must live or die,"

भी खयाल रखना चाहिए। जो मुहावरा सर्वसम्मत है उसी का प्रयोग करना चाहिए। हिंदी और उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गए हैं। वे यदि बोलचाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता। उन्हें त्याज्य नहीं समझना चाहिए। कोई-कोई ऐसे शब्दों को मूल रूप में लिखना ही सही समझते हैं। पर यह उनकी भूल है।

असलियत से यह मतलब नहीं कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझा जाय और हर बात में सच्चाई का खयाल रखा जाय। यह नहीं कि सच्चाई की कसौटी पर कसने पर यदि कुछ भी कसर मालूम हो तो कविता का कवितापन जाता रहे। असलियत से सिर्फ इतना ही मतलब है कि कविता बेबुनियाद न हो। उसमें जो उक्ति हो वह मानवी मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कही गई हो। स्वाभाविकता से उसका लगाव न छूटा हो। कवि यदि अपनी या और किसी की तारीफ करने लगे और यदि वह उसे सचमुच ही सच समझे, अर्थात् उसकी भावना वैसी ही हो, तो वह भी असलियत से खाली नहीं; फिर चाहे और लोग उसे उसका उलटा ही क्यों न समझते हों।

परंतु इन बातों में भी स्वाभाविकता से दूर न जाना चाहिए। क्योंकि स्वाभाविक अर्थात् नेचुरल (Natural) उक्तियाँ ही सुननेवाले के हृदय पर असर कर सकती हैं—अस्वाभाविक नहीं। असलियत को लिए हुए कवि स्वतन्त्रतापूर्वक जो चाहे

कह सकता है। असल बात को एक नए साँचे में ढालकर कुछ दूर तक इधर उधर की उड़ान भी कर सकता है, पर असलियत के लगाव को वह नहीं छोड़ता। असलियत को हाथ से जाने देना मानों कविता को प्राय: निर्जीव कर डालना है। शब्द और अर्थ दोनों ही के संबंध मे उसे स्वाभाविकता का अनुधावन करना चाहिए। जिस बात के कहने में लोग स्वाभाविक रीति पर जैसे और जिस क्रम से शब्दप्रयोग करते हैं वैसे ही कवि को भी करना चाहिए। कविता में उसे कोई बात ऐसी न कहनी चाहिए जो दुनिया में न होती हो। जो बातें हमेशा हुआ करती है अथवा जिन बातों का होना संभव है, वही स्वाभाविक हैं। अर्थ की स्वाभाविकता से मतलब ऐसी ही बातों से है। जोश से यह मतलब है कि कवि जो कुछ कहे इस तरह कहे मानो उसके प्रयुक्त शब्द आप ही आप उसके मुँह से निकल गए है। उनसे बनावट न जाहिर हो। यह न मालूम हो कि कवि ने कोशिश करके ये बातें कहीं हैं; किंतु यह मालूम हो कि उसके हृद्गत भावों ने कविता के रूप में अपने को प्रकट कराने के लिये उसे विवश किया है। जो कवि है उसमें जोश स्वाभाविक होता है। वर्ण्यवस्तु को देखकर, किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से, वह उस पर कविता करने के लिये विवश सा हो जाता है। उसमें एक अलौकिक शक्ति पैदा हो जाती है। इसी शक्ति के बल से वह सजीव ही नहीं, निर्जीव चीजों तक का वर्णन ऐसे प्रभावोत्पादक ढग से करता है कि यदि उन चीजों में

बोलने की शक्ति होती तो खुद वे भी उससे अच्छा वर्णन न कर सकतीं। जोश से यह भी मतलब नहीं कि कविता के शब्द खूब जोरदार और जोशीले हों। सभव है शब्द जोरदार न हों पर जोश उसमे छिपा हुआ हो। धीमे शब्दों में भी जोश रह सकता है और पढने या सुननेवाले के हृदय पर चोट कर सकता है। परंतु ऐसे शब्दों का कहना ऐसेवैसे कवि का काम नहीं। जो लोग मीठी छुरी मे तलवार का काम लेना जानते हैं वही धीमे शब्दों मे जोश भर सकते हैं।

सादगी, असलियत और जोश, यदि ये तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है। परतु बहुधा अच्छी कविता में भी इनमें से एक-आध गुण की कमी पाई जाती है। कभी कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश रहता है, सादगी और असलियत नहीं। परंतु बिना असलियत के जोश का होना बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए,

अच्छी कविता की सबसे बड़ी परीक्षा यह है कि उसे सुनते ही लोग बोल उठें कि सच कहा है। वही कवि सच्चे कवि हैं जिनकी कविता सुनकर लोगों के मुँह से सहसा यह उक्ति निकलती है। ऐसे कवि धन्य हैं, और जिस देश में ऐसे कवि पैदा होते हैं वह देश भी धन्य है। ऐसे ही कवियों की कविता चिरकाल तक जीवित रहती है।

———

लोभ और प्रीति

[पंडित रामचद्र शुक्ल]

किसी प्रकार का सुख या आनंद देनेवाली वस्तु के संबंध में मन की ऐसी स्थिति को जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़े, लोभ कहते हैं। दूसरे की वस्तु का लोभ करके लोग उसे लेना चाहते हैं, अपनी वस्तु का लोभ करके लोग उसे देना या नष्ट होने देना नहीं चाहते। प्राप्य या प्राप्त सुख के अभाव या अभावकल्पना के बिना लोभ की अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः इसके सुखात्मक और दुःखात्मक दोनों पक्ष हैं। जब लोभ अप्राप्त के लिए होता है तब तो दुःख स्पष्ट ही रहता है। प्राप्त के संबंध में दुःख का अंग निहित रहता है और अभाव के निश्चय या आशंका मात्र पर व्यक्त हो जाता है। कोई सुखद वस्तु पास में रहने पर भी मन में इस इच्छा का बीज रहता है कि उसका अभाव न हो। पर अभाव का जब तक ध्यान नहीं होता तब तक इस वासना का कहीं पता नहीं रहता हम बैठे बैठे किसी वस्तु का आनद ले रहे हैं और उस आनद के अभाव से जो दुःख होगा उसका कुछ भी ध्यान हमारे मन में नहीं है। इसी बीच में कोई आकर उस वस्तु को ले जाना चाहता है; तब हम उससे कुछ व्यग्र होकर कहते हैं 'अभी

नि—४

रहने दो।' इसके पहले कोरे आनंद के अनुभव में इस इच्छा का कहीं पता न था कि वह वस्तु हटाई न जाय।

विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। जहाँ लोभ सामान्य या जाति के प्रति होता है वहाँ वह लोभ ही रहता है; पर जहाँ किसी जाति के एक ही विशेष व्यक्ति के प्रति होता है वहाँ वह 'रुचि' या 'प्रीति' का पद प्राप्त करता है। लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख। कहीं कोई अच्छी चीज सुनकर दौड़ पड़ना लोभ है। किसी विशेष वस्तु पर इस प्रकार मुग्ध रहना कि उससे कितना ही अच्छी अच्छी वस्तुओं के सामने आने पर भी उस विशेष वस्तु से प्रवृत्ति न हटे, रुचि या प्रेम है। किसी स्त्री या पुरुष के रूप की प्रशंसा सुनते ही पहला भाव लोभ का होगा। किसी को हमने बहुत सुंदर देखा और लुभा गए; उसके पीछे दूसरे को उससे भी सुंदर देखा तो उस पर लुभा गए। जब तक प्रवृत्ति का यह व्यभिचार रहेगा, तब तक हम रूपलोभी ही माने जायँगे। जब हमारा लोभ किसी एक ही व्यक्ति पर स्थिर हो जायगा, हमारी वृत्ति एकनिष्ठ हो जायगी, तब हम प्रेमी कहे जाने के अधिकारी होंगे। पर साधारणतः मन की ललक यदि वस्तु के प्रति होती है तो लोभ और किसी प्राणी या मनुष्य के प्रति होती है तो प्रीति कहलाती है।

लोभ का प्रथम संवेदनात्मक अवयव है किसी वस्तु का बहुत अच्छा लगना, उससे बहुत सुख या आनंद का अनुभव होना। अतः वह आनंदस्वरूप है। इसी से किसी अच्छी वस्तु को देखकर लुभा जाना कहा जाता है। पर केवल इस अवस्था में लोभ की पूरी अभिव्यक्ति नहीं होती। कोई वस्तु हमें बहुत अच्छी लगी, किसी वस्तु से हमें बहुत सुख या आनंद मिला, इतने ही पर दुनिया में यह नहीं कहा जाता कि हमने लोभ किया। जब संवेदनात्मक अवयव के साथ इच्छात्मक अवयव का संयोग होगा अर्थात् जब उस वस्तु को प्राप्त करने की, दूर न करने की, कष्ट न होने देने की, इच्छा प्रकट होगी तभी हमारा लोभ लोगों पर खुलेगा। इच्छा लोभ या प्रीति का ऐसा आवश्यक अंग है कि यदि किसी को कोई बहुत अच्छा या प्रिय लगता है तो लोग कहते हैं कि 'वह उसे चाहता है।'

भूखे रहने पर सबको पेड़ा अच्छा लगता है चौबेजी पेट भर भोजन के ऊपर भी पेडे पर हाथ फेरते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि चौबेजी को मिष्टान्न से अधिक रुचि है। यह अभिरुचि भी लोभ की चेष्टाएँ उत्पन्न करती है। इंद्रियों के विषयभेद से अभिरुचि के विषय भी भिन्न भिन्न हो सकते हैं। कमल का फूल और रमणी का सुंदर मुख अच्छा लगता है, वीणा की तान और अपनी तारीफ अच्छी लगती है, जूही और केसर की गंध अच्छी लगती है, रबड़ी और मालपूवा अच्छा लगता है, मुलायम गद्दा अच्छा लगता है। ये सब

वस्तुएँ तो आप आनद देती हैं इससे इनकी प्राप्ति की इच्छा तो बहुत सीधी सादी और स्वाभाविक कही जा सकती है। पर जिससे इन सब वस्तुओं की प्राप्ति सुलभ होती है उसमें चाहे आनंद देनेवाली स्वतः कोई बात न हो, पर उसकी प्राप्ति की इच्छा होती है, उसका लोभ होता है। रुपए के रूप, रस, गंध आदि में कोई आकर्षण नहीं होता पर जिस वेग से मनुष्य उस पर टूटते हैं उस वेग से भौंरे कमल पर और कौए माँस पर भी न टूटते होंगे। यहाँ तक कि 'लोभी' शब्द से साधारणतः रुपएपैसे का लोभी, धन का लोभी, समझा जाता है। एक धातुखंड के गर्भ में कितने प्रकार के सुख और आनंद मनुष्य समझता है। पर यह समझ इतनी पुरानी पड़ गई है कि इसकी ओर हमारा ध्यान अब प्रायः नहीं रहता। धनसचय करने में बहुतों का लक्ष्य धन ही रहता है, उससे प्राप्य सुख नहीं। वे बडे से बड़े सुख के बदले मे या कठिन से कठिन कष्ट के निवारण के लिये थोड़ा सा भी धन अलग करना नहीं चाहते। उनके लिये साधन ही साध्य हो जाता है।

स्थितिभेद से प्रिय या अच्छी लगनेवाली वस्तु के संबंध मे इच्छा दो प्रकार की होती है—

१ प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा,

२ दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा।

प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा भी दो प्रकार की हो सकती है—

१ इतने संपर्क की इच्छा जितना और किसी का न हो,

२ इतने सपर्क की इच्छा जितना सब कोई या बहुत से लोग एक साथ रख सकते हों।

इनमें से प्रथम प्रतिषेधात्मक होने के कारण प्रायः विरोध-ग्रस्त होती है इससे उस पर समाज का ध्यान अधिक रहता है। कोई वस्तु हमे बहुत अच्छी लगती है; लगा करे, दूसरों को इससे क्या? पर जब हम उस वस्तु की ओर हाथ बढ़ाएँगे या औरों को उसकी ओर हाथ बढ़ाने न देंगे तब बहुत से लोगों का ध्यान हमारे इस कृत्य पर जायगा जिनमे से कुछ हाथ थामनेवाले और मुँह लटकानेवाले भी निकल सकते हैं। हमारे लोभ की शिकायत ऐसे ही लोग अधिक करते पाए जायँगे। दूसरों के लोभ की निंदा जैसी अच्छी लोभी कर सकते हैं वैसी और लोग नहीं। माँगने पर न पानेवाले और न देनेवाले दोनों इसमें प्रवृत्त होते हैं। एक कहता है 'वह बड़ा लोभी है; देता नहीं' दूसरा कहता है 'वह बड़ा लोभी है; बराबर माँगा करता है।' रहीम दोनों को लोभी, दोनों को बुरा, कहते हैं—

> रहिमन वे नर मरि चुके जो कहुँ माँगन जाहिं।
> उनतें पहिले वे मुए जिन मुख निकसत 'नाहिं'॥

ऐसा उस समय होता है जब एक ही वस्तु के संबंध में एक ओर तो प्राप्त करने और दूसरी ओर दूर न करने की इच्छा बिंबप्रतिबिंब रूप से दो व्यक्तियों में होती है। इसके अति-

रिक्त एक ही वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा यदि संयोग से कई प्राणियों के चित्त में हुई तो भी विरोध का पूरा विधान होता है। सारांश यह कि दोनों अवस्थाओं में लोभ का लक्ष्य एक होने पर लोभी एक दूसरे को बहुत व्याकुल करते हैं।

प्राप्ति की प्रतिषेधात्मक इच्छा की सदोषता और निर्दोषता लोभ के विषय पर भी निर्भर रहती है। लोभ के विषय दो प्रकार के होते हैं—सामान्य और विशेष। अच्छा खाना, अच्छा कपड़ा, अच्छा घर तथा धन, जिससे ये सब वस्तुएं सुलभ होती हैं, सबको भाता है, सब उसकी प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं। ये लोभ के सामान्य विषय हुए, जिन पर प्रायः मनुष्य मात्र का लक्ष्य रहता है अतः इनके प्रति जो लोभ होता है उस पर बहुत लोगों का ध्यान जाता है। पर यदि किसी को गुलाबजामुन या विशेष बूटी की छींट बहुत अच्छी लगे और वह उसे प्राप्त करना या न देना चाहे, तो उसके इस लोभ पर बहुत कम लोगों का ध्यान जायगा और जिनका ध्यान जायगा भी उन्हें वह खटकेगा नहीं। ऐसे लोभ को वे रुचि कहेंगे। सबको जिसकी हाय हाय होती है, सब जिसको पाना या रखना चाहते हैं, वह बहुत से लोगों को एक मैदान में लाकर खड़ा किया करता है जहाँ एक दूसरे की गति विधि का निरीक्षण और अवरोध बड़ी कड़ी नजर और पूरी मुस्तैदी से होता है।

यदि मनुष्य समाज में सबके लोभ के लक्ष्य भिन्न भिन्न होते तो लोभ को बुरा कहनेवाले कहीं न मिलते। यदि एक साथ रहनेवाले दस आदमियों में से कोई गाय बहुत चाहता, कोई घोड़ा, कोई कपड़ा, कोई ईंट, कोई पत्थर, कोई सोना, कोई चाँदी, कोई ताँबा और इन वस्तुओं में से किसी को शेष सब वस्तुओं को प्राप्त कराने की कृत्रिम शक्ति न दी जाती, तो एक लोभ से दूसरे को कोई कष्ट न पहुँचता और दूसरी बात यह होती कि लोभ का एक बुरा लक्षण जो असंतोष है, उसकी भी एक सीमा हो जाती—कोई कितनी गायें रखता, कितने घोड़े बाँधता, कहाँ तक सोना चाँदी इकट्ठी करता। पर विनिमय की कठिनता दूर करने के लिये मनुष्यों ने कुछ धातुओं में सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराने का कृत्रिम गुण आरोपित किया जिससे मनुष्य मात्र की सांसारिक इच्छा और प्रयत्न का लक्ष्य एक हो गया, सबकी टकटकी टके की ओर लग गई।

लक्ष्य की इस एकता से समाज मे एक दूसरे की आँखों मे खटकनेवाले लोभ की वृद्धि हुई। अब एक ही को चाहने-वाले बहुत से हो गए तब एक की चाह को दूसरे कहाँ तक पसंद करते! लक्ष्मी की मूर्ति धातुमयी हो गई, उपासक सब पत्थर के हो गए। धीरे धीरे यह दशा आई कि जो बातें पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से, की जाती थीं वे भी रुपये पैसे की दृष्टि से होने लगीं। आजकल तो बहुत सी

बातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई हैं। पैसे से राजसम्मान की प्राप्ति, विद्या की प्राप्ति और न्याय की प्राप्ति होती है। जिनके पास कुछ रुपया है वे बड़े बड़े विद्यालयों में अपने लड़कों को भेज सकते हैं, न्यायालओं में फीस देकर अपने मुकदमे दाखिल कर सकते हैं और महँगे वकील बैरिस्टर करके बढ़िया खासा निर्णय करा सकते हैं, अत्यत भीरु और कायर होकर बहादुर कहला सकते है। राजधर्म, आचार्यधर्म, वीरधर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टकाधर्म हो गए। धन की पैठ मनुष्य के सब कार्यक्षेत्रों में करा देने से, उसके प्रभाव को इतना विस्तृत कर देने से, ब्राह्मणधर्म और क्षात्रधर्म का लोप हो गया; केवल वणिग्धर्म रह गया।

व्यापारनीति राजनिति का प्रधान अंग हो गई। बड़े बड़े राज्य माल की बिक्री के लिये लड़नेवाले सौदागर हो गए। जिस समय क्षात्रधर्म की प्रतिष्ठा थी, एक राज्य दूसरे राज्य पर कभी कभी विजयकीर्त्ति की कामना से डके की चोट चढ़ाई करता था। अब सदा एक देश दूसरे देशों का चुपचाप दबे पाँव धनहरण करने की ताक में लगा रहता है। इसी से भिन्न भिन्न राज्यों की परस्पर संबंध समस्या इतनी जटिल हो गई है। कोई कोई देश लोभवश इतना अधिक माल तैयार करते है कि उसे किसी देश के गले मढ़ने की फिक्र में दिन-रात मरते रहते हैं। जब तक यह व्यापारोन्माद दूर न होगा तब तक इस पृथ्वी पर सुख शांति न होगी। दूर यह अवश्य

होगा। क्षात्रधर्म की संसार में एक बार फिर प्रतिष्ठा होगी, चोरी का बदला डकैती से लिया जायगा।

सामान्य विषयगत प्रतिषेधात्मक लोभ में भी लोभदृष्टि जितनी ही सकुचित होती है, उसके भीतर जितनी ही कम वस्तुएँ आती हैं, उतना ही उसका दोष कम होता है। अच्छे भोजन की सबको चाह होती है अतः उसे बहुत चाहनेवाला लोभी कहला सकता है। पर अच्छे भोजनों में से यदि किसी को मिठाई की चाह अधिक रहे, तो उसका दोष कम और मिठाइयों में से यदि केवल गुलाबजामुन की अधिक चाह रहे तो और भी कम क्या कुछ भी न समझा जायगा। इसी प्रकार जहाँ एक ही वस्तु बहुत प्रकार की रखी हुई है वहाँ यदि कोई एक किसी को बहुत पसद आ जाय और वह उसे लेना चाहे तो उसकी गिनती लोभियों में न होगी। विश्वामित्र को वसिष्ठ की गाय बहुत पसंद आई और वे उसके बदले में बहुत सी गायें देने के लिये तैयार हो गये पर वसिष्ठ ने अपनी गाय नहीं दी। इसके लिये लड़ भिड़कर भी न वसिष्ठ लोभी कहलाए, न विश्वामित्र। इसी प्रकार एक नवाब साहब को बाबू हरिश्चद्र का एक अलबम बहुत पसद आया था। ये लोभ के विशेष विषय के उदाहरण हैं। इनके प्रति जो लोभ होता है उसके अवसर इतने कम होते हैं कि उनसे स्वभाव या अधिक अभ्यास का अनुमान नहीं किया जा सकता। पर किसी की अच्छी चीज देखते ही जिनके मुँह में पानी आ

जाता है, वे बराबर खरी-खोटी सुना करते हैं। एक लोभ मे दूसरे लोभ का निवारण भी होता है जिससे लोभी मे अन्य वस्तुओं के त्याग का साहस आता है। विशेष विषयगत लोभ यदि बहुत प्रबल और सच्चा हुआ तो लोभी के त्याग का विस्तार बहुत बड़ा होता है। लोभ तो उसे विशेष और निर्दिष्ट वस्तु से है अतः उसके अतिरिक्त अन्य अनेक वस्तुओं का त्याग वह उसके लिये कर सकता है। विश्वामित्र एक गाय के लिये अपना सारा राजपाट देने को तैयार हो गए थे। अन्य का त्याग अनन्य और सच्चे लोभ की पहिचान है।

यहाँ तक तो प्राप्ति की प्रतिषेधात्मक इच्छावाले लोभ की बात हुई जिसका प्रायः विरोध होता है। अब प्राप्ति की उस इच्छा का विचार करता हूँ जिसे एक ही वस्तु के संबंध में बहुत से लोग बिना किसी विरोध के रख सकते हैं। जिस लोभ से दूसरे को कोई बाधा या कष्ट पहुँचता है उसी को पहले एक—प्रायः जिसे बाधा या कष्ट होता है—बुरा कहता है, फिर दूसरा, फिर तीसरा; इसी प्रकार बहुत से बुरा कहनेवाले हो जाते हैं। साराश यह कि जो लोभ दूसरे की सुख शाति या स्वच्छदता का बाधक होता है, अधिकतर वही निंद्य समझा जाता है। उपवन की शोभा सबको लुभाती है। यदि कोई नित्य किसी के बगीचे में जाकर टहला करे तो उसका क्या जाता है? यदि हम किसी वस्तु पर लुभाकर उससे उतना ही सपर्क रखना चाहते हैं जितना सब लोग एक साथ रख सकते

हैं, तो हमारा लोभ किसी की आँखों में नहीं खटक सकता। बगीचे को आँख से एक साथ बहुत लोग देख सकते हैं, पर उसमे के फल नहीं खा सकते। जहाँ देखने का भी दाम लगता है या कुछ आदमियों का देखना बिना बद किए देखा नहीं जा सकता, वहाँ दृष्टि संपर्क की इच्छा भी मुश्किल में डाल देती है। पर जहाँ एक की इच्छा दूसरे की इच्छा की बाधक न होकर साधक होती है वहाँ एक ही वस्तु का लोभ रखनेवाले बहुत से लोग बड़े सद्भाव के साथ रहते हैं। लुटेरे या डाकू इसी प्रकार दलबद्ध होकर काम करते हैं।

किसी को कोई स्थान बहुत प्रिय हो जाता है और वह हानि और कष्ट उठाकर भी वहाँ से नहीं जाना चाहता। हम कह सकते हैं कि उसे उस स्थान का पूरा लोभ है। जन्म-भूमि का प्रेम, स्वदेशप्रेम यदि वास्तव में अंतःकरण का कोई भाव है तो स्थान के लोभ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस लोभ के लक्षणों से शून्य देशप्रेम कोरी बकवाद या फैशन के लिये गढ़ा हुआ शब्द है। यदि किसी को अपने देश से प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर सबसे प्रेम होगा; सबको वह चाहभरी दृष्टि से देखेगा, सबकी सुध करके वह विदेश में आँसू बहाएगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहाँ चिल्लाता है, जो आँख भर यह भी नहीं देखते कि आम

प्रणयसौरभ पूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं, जो यह भी नहीं झाँकते कि किसानों के झोंपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देशप्रेम का दावा करें, तो उनसे पूछना चाहिए कि, "भाइयों! बिना परिचय का यह प्रेम कैसा? जिनके सुख दुःख के तुम कभी साथी न हुए उन्हें तुम सुखी देखना चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। उनसे कोसों दूर बैठे बैठे, पडे पडे, या खड़े खडे, तुम विलायती बोली में अर्थशास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो।" प्रेम हिसाब किताब की बात नहीं हिसाब किताब करनेवाले भाडे पर भी मिल सकते है पर प्रेम करनेवाले नहीं। हिसाब किताब से देश की दशा का ज्ञान मात्र हो सकता है। हितचिंतन और हितसाधन की प्रवृत्ति इस ज्ञान से भिन्न है, वह मन के वेग पर निर्भर है, उसका संबंध लोभ या प्रेम से है जिसके बिना आवश्यक त्याग का उत्साह हो ही नहीं सकता। जिसे ब्रज की भूमि से प्रेम होगा वह इस प्रकार कहेगा—

नैनन सों रसखान जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
केतिक ये कलधौत के धाम करील के कुञ्जन ऊपर वारौं॥

रसखान तो किसी की "लकुटी अरु कामरिया पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे पर देश-प्रेम की दुहाई देनेवालों में से कितने अपने किसी थके माँदे

भाई के फटेपुराने कपड़ों और धूल भरे पैरों पर रीझकर; या कम से कम न खीझकर, बिना मन मैला किए कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे ? मोटे आदमियो ! तुम जरा सा दुबले हो जाते—अपने अँदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठटरियों पर मास चढ़ जाता।

अब पूछिए कि जिनमें यह देश प्रेम नहीं है उनमें यह किसी प्रकार हो भी सकता है ? हाँ हो सकता है परिचय से, सान्निध्य से। जिस प्रकार लोभ से सान्निध्य की इच्छा उत्पन्न होती है उसी प्रकार सान्निध्य से भी लोभ या प्रेम की प्रतिष्ठा होती है। जिनके बीच हम रहते हैं, जिन्हें हम बराबर आँखों से देखते हैं, जिनकी बातें हम बराबर सुनते रहते है, जिनका हमारा हर घड़ी का साथ हो जाता है, साराश यह कि जिनके सान्निध्य का हमें अभ्यास पड़ जाता है, उनके प्रति लोभ या राग हो जाता है। जिस स्थान पर कोई बहुत दिनों तक रह आता है उसे छोड़ते हुए उसे दुःख होता है। पशु और बालक भी जिनके साथ अधिक रहते हैं उनसे परच जाते हैं। यह 'परचना' परिचय से निकला है। परिचय प्रेम का प्रवर्त्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यदि देश प्रेम के लिये हृदय मे जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ। बाहर निकलो तो आँख खोलकर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच से कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से वनस्थली कैसी लाल

हो रही है, चौपायों के झुंड चरते हैं, चरवाहे तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच में गाँव झाँक रहे हैं। उनमें घुसो, देखो तो क्या हो रहा है। जो मिलें उनसे दो दो बातें करो; उनके साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घड़ी आध घड़ी बैठ जाओ और समझो कि ये सब हमारे हैं। इस प्रकार जब देश का रूप तुम्हारी आँखों में समा जायगा, तुम उसके अंग प्रत्यंग से परिचित हो जाओगे, तब तुम्हारे अंतःकरण में इस इच्छा का उदय होगा कि वह हमसे कभी न छूटे, वह सदा हराभरा और फलाफूला रहे, उसके धनधान्य की वृद्धि हो, उसके सब प्राणी सुखी रहें। यह तो वर्त्तमान प्रेमसूत्र हुआ। अतीत की ओर भी दृष्टि फैलाओ। राम, कृष्ण, भीष्म, अर्जुन, विक्रम, कालिदास, भवभूति इत्यादि का स्मरण करो जिससे ये सब नाम तुम्हारे प्यारे हो जायँ। इनके नाते भी यह भूमि और इस भूमि के निवासी तुम्हें प्रिय होंगे।

पर आजकल इस प्रकार का परिचय बाबुओं की लज्जा का एक विषय हो रहा है। वे देश के स्वरूप से अनजान रहने या बनने में अपनी बड़ी शान समझते हैं। मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ साँची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुंदर छोटी सी पहाड़ी के ऊपर है। नीचे एक छोटा सा जंगल है जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत से हैं। संयोग से उन दिनों पुरातत्त्व-विभाग का कैंप पड़ा हुआ था। रात हो जाने से हम लोग उस दिन स्तूप नहीं देख सके। सबेरे

देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे। वसंत का समय था। महुए चारों ओर टपक रहे थे। मेरे मुँह से निकला—"महुओं की कैसी मीठी महक आ रही है।" इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोककर कहा—"यहाँ महुए सहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे।" मैं चुप हो गया; समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।

आरंभ में ही कहा जा चुका है कि प्रवृत्तिभेद से प्रिय वस्तु के संबंध में इच्छा दो प्रकार की होती है—प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा तथा दूर न करने या नष्ट न होने देने की इच्छा। प्राप्ति या सान्निध्य की इच्छा का विचार तो हो चुका। अब रक्षा की इच्छा का अन्वेषण करना है। रक्षा की इच्छा भी दो प्रकार की होती है—

१—स्वायत्तरक्षा की इच्छा अर्थात् अपने अधिकार मे रखने की इच्छा।

२ स्वनिरपेक्षरक्षा की इच्छा अर्थात् केवल बने रहने देने की इच्छा। स्वायत्त रखने की इच्छा प्रायः अनन्य उपयोग या उपभोग की वासना से संबद्ध रहती है इससे वह कभी कभी लोगों को खटकती है और लोग उसका विरोध करते हैं। कोई बहुत मीठे आम का पेड़ है जिसका फल सब लोग खाते हैं और जिसकी रखवाली सब लोग करते हैं। यदि उनमें से कोई एक अकेले उसकी रखवाली करने चले और किसी को पास न

आने दे, तो सब लोग मिलकर विरोध करेंगे। पर कभी कभी स्वायत्त रखने की इच्छा अन्य द्वारा यथेष्ट रक्षा के उस अविश्वास के कारण होती है जो लोभ या प्रीति की अधिकता से उत्पन्न होता है। ऐसी दशा में यदि सरदय वस्तु के उपयोग या उपभोग आदि मे औरों को कोई बाधा नहीं पहुँचती है तो किसी एक का उसे अपनी रक्षा में रखना दूसरे को बुरा नहीं लगता।

यदि लोभ की वस्तु ऐसी है जिससे सबको सुख और आनंद है तो उस पर जितना ही अधिक ध्यान रहेगा, रक्षा के भाव की एकता के कारण, परस्पर मेल की उतनी ही प्रवृत्ति होगी। यदि दस आदमियों में से सबकी यही इच्छा है कि कोई मदिर बना रहे, गिरने पड़ने न पाए अथवा और अधिक उन्नत और सुसज्जित हो, तो यह सम्मिलित इच्छा ऐक्यसूत्र होगी। मिल-कर कोई कार्य करने से उसका साधन अधिक या सुगम होता है, यह बतलाना 'पर उपदेश कुशल' नीतिज्ञों का काम है, मेरे विचार का विषय नहीं। मेरा उद्देश्य तो मनुष्य की स्वाभा-विक प्रवृत्तियों की छानबीन है जो निश्चयात्मिका वृत्ति से भिन्न हैं। मुझे तो यह कहना है कि इन इन अवस्थाओं में मेल की प्रवृत्ति होती है। अब मेल से क्या क्या लाभ होते हैं, यह तो न जाने कितने झगड़ालू बताते हैं और न जाने कितने लोग सुनकर झगड़ा करते हैं।

लोभ का सबसे प्रशस्त रूप वह है जो रक्षा मात्र की इच्छा का प्रवर्तक होता है, जो मन में यही वासना उत्पन्न करता है

कि कोई वस्तु बनी रहे, चाहे वह हमारे किसी उपयोग में आए या न आए। इस लोभ मे दोष का लेश उसी अवस्था में आ सकता है जब कि वह वस्तु ऐसी हो जिससे किसी को कोई बाधा या हानि पहुँचती हो। कोई सुंदर कृष्णसार मृग नित्य आकर खेतों की हानि किया करता है। उसके सौंदर्य पर मुग्ध होकर उसकी रक्षा चाहनेवाला यदि बराबर उसकी रक्षा में प्रवृत्त रहेगा तो बहुतों से उसकी अनबन हो सकती है। वह लोभ धन्य है जिससे किसी के लोभ का विरोध नहीं और लोभ की जो वस्तु अपने सब लोभियों को एक दूसरे का लोभी बनाए रहती है वह भी परम पूज्य है। घर का प्रेम, पुर या ग्राम का प्रेम, देश का प्रेम इसी पवित्र लोभ के क्रमशः विस्तृत रूप हैं। मनुष्य के प्रयत्नों की पहुँच बहुत परिमित होती है। अतः जो प्रमक्षेत्र जितना ही निकटस्थ होगा उसमें उतने ही अधिक प्रयत्न की आवश्यकता होगी और जो जितना ही दूर होगा, प्रयत्नों का उतना ही कम अंश उसके लिये आवश्यक होगा। सबसे अधिक घर की रक्षा का, फिर पुर या ग्राम की रक्षा का और फिर देश की रक्षा का ध्यान जनसाधारण के लिये स्वाभाविक है। पर जिनकी दृष्टि बहुत व्यापक होती है, जिनके अन्तःकरण में परार्थ छोड़ स्वार्थ के लिये अलग जगह नहीं होती, वे इस क्रम का विपर्यय कर दिखाते हैं। वे देश की रक्षा के लिये अवसर पड़ने पर घर का लोभ क्या प्राण तक का लोभ छोड़ देते हैं।

पर ऐसे लोग विरले होते हैं। सबसे ऐसी आशा नहीं की जा सकती।

अब घर का प्रेम, पुर का प्रेम, देश का प्रेम कहाँ तक विरोध शून्य होता है, यह भी देखिए। इनका अविरोध परिमित होता है—घर के भीतर, पुर या ग्राम के भीतर ही उसके होने का निश्चय रहता है। घर के बाहर, पुर या ग्राम के बाहर, देश के बाहर विरोध करने-वाले मिल सकते हैं। एक घर की रक्षा दूसरे घरवालों से,-एक पुर की रक्षा दूसरे पुरवालों से, और एक देश की रक्षा दूसरे देशवालों से करनी पड़ती है।

जिनकी आत्मा समस्त भेद भाव भेदकर अत्यत उत्कर्ष पर पहुँची हुई होती है वे सारे संसार की रक्षा चाहते हैं—जिस स्थिति में भूमंडल के समस्त प्राणी, कीट पतग से लेकर मनुष्य तक, सुखपूर्वक रह सकते हैं, उसके अभिलाषी होते हैं। ऐसे लोग विरोध के परे हैं। उनसे जो विरोध रखें वे सारे ससार के विरोधी हैं; वे लोक के कंटक हैं।

कोई वस्तु हमें बराबर सुख या आनंद देती रहे और कोई वस्तु बनी रहे, इन्हीं दो भावों को लेकर स्वायत्तरक्षा की इच्छा और स्वनिरपेक्ष रक्षा की इच्छा ये दो विभाग पहले किए हैं। अतः पहली को यदि हम अपने सुख की रक्षा की इच्छा कहे तो बहुत अनुचित न होगा। वस्तु के दूसरे के पास जाने से या नष्ट हो जाने से हमे सुख या आनद न मिल सकेगा, इसी से हम उसकी रक्षा के लिये व्यग्र होते हैं। यदि

ऐसी वस्तु को कोई उठाए लिए जाता हो और वह बीच में नष्ट हो जाय, तो हमें दुःख न होगा; क्योंकि जब चीज हमारे हाथ से निकल गई, हमे वह सुख या आनद दे ही नहीं सकती, तब चाहे रहे, चाहे नष्ट हो। यहाँ तक कि यदि ले जानेवाले के प्रति हमें क्रोध होगा या ईर्ष्या होगी तो हम प्रसन्न होंगे। जहाँ वस्तुरक्षा की इच्छा होगी वहाँ यह बात न होगी। हम किसी दशा में उस वस्तु का नाश न चाहेंगे। किसी पुराने काजी के पास दो स्त्रियाँ एक बच्चे को लेकर लड़ती हुई आईं। एक कहती थी बच्चा मेरा है; दूसरी कहती थी मेरा। काजी साहब ने परीक्षा के विचार से कहा—"अच्छा, तुम दोनों को बच्चा काटकर आधा आधा बाँट दिया जायगा।" इतना सुनते ही दोनों मे से एक स्त्री घबराकर बोल उठी-"जाने दीजिए, बच्चा मुझे न चाहिए, उसी को दे दीजिए।" काजी साहब समझ गए कि बच्चा इसी का है। वह स्त्री बच्चे की माँ थी, अतः उसे उसका सच्चा लोभ था।

अब तक लोभ के संबंध मे जो कुछ कहा गया वह उसका व्यापक अर्थ लेकर। पर जैसा पहले कहा जा चुका है, 'लोभ' शब्द कहने से आजकल प्रायः धन के लोभ की भावना होती है, प्राप्ति या रक्षा की उस इच्छा की ओर ध्यान जाता है जो जीवननिर्वाह की सामग्रियों के प्रति होती है। धन से अनेक सुखों की प्राप्ति और अनेक कष्टों का निवारण होता है अथवा यों कहिए कि धन के बिना ससार मे रहना सभव

नहीं। संसार में जो इतने लोग धन इकट्ठा करते दिखाई देते हैं उनमें से कुछ तो घोर कष्ट के निवारण के लिये, कुछ अधिक सुख की प्राप्ति के लिये, कुछ भविष्य में सुख के अभाव या कष्ट की आशंका से और कुछ बिना किसी उद्देश्यभावना के। इनमें से प्रथम श्रेणी के लोग तो धन की चाहे जितनी प्रबल इच्छा करें, उसके लिये चाहे जितने आतुर हों, लोभी नहीं कहला सकते। धन के बिना जिन्हें पेट भर अन्न नहीं मिलता, जो शीत और ताप से अपने शरीर की रक्षा नहीं कर सकते, उन्हें जो लोभी कहें वे बडे भारी लोभी और बड़े भारी क्रूर हैं। दूसरी श्रेणी के लोगों पर से लोभ के आरोप की सभावना क्रमशः बढ़ते बढ़ते चौथी श्रेणी के लोगों पर जाकर निश्चय कोटि को पहुँच जाती है। कष्ट निवारण की इच्छा, अधिक सुखप्राप्ति की इच्छा, सुखाभाव या कष्ट की आशंका—ये तीनों धन और उसकी प्राप्ति की इच्छा के बीच ओट या व्यवधान के रूप में रहती हैं। जहाँ इन तीनों में से कोई परदा नहीं रहता वहाँ शुद्ध धनलोभी की जघन्य मूर्ति साक्षात् दिखाई पड़ती है।

धन की कितनी इच्छा लोभ के लक्षणों तक पहुँचती है, इसका निर्णय कठिन है। पर किसी मनोविकार की उचित सीमा का अतिक्रमण प्रायः वहाँ समझा जाता है जहाँ और मनोवृत्तियाँ दब जाती हैं या उनके लिये बहुत कम स्थान रह जाता है। और मनोवेगो के आधिक्य से लोभ के आधिक्य

में विशेषता यह होती है कि लोभ स्वविषयान्वेषी होने के कारण अपनी स्थिति और वृद्धि का आधार आप खड़ा करता रहता है, जिससे असंतोष की प्रतिष्ठा के साथ ही साथ और वृत्तियों के लिये स्थायी अनवकाश हो जाता है। और मनोविकारों में यह बात नहीं होती। क्रोध को ही लीजिए। क्रोध कुछ बातों पर आता है पर उन बातों को ढूँढ़ने में प्रवृत्त नहीं होता। क्रोधी स्वभाव का मनुष्य ऐसी बातों पर भी चिढ़ जाता है जिनसे और लोग नहीं चिढ़ते पर वह सदा इस फेर मे नहीं घूमा करता कि कोई बात चिढ़ने को मिले। क्रोध से आग बबूला होनेवाले तुरंत करुणा से आर्द्र और लज्जा से पानी पानी होते हुए भी देखे जाते हैं। क्रोध आदि में अन्य वृत्तियों का जो बोध होता है वह प्रायः क्षणिक होता है, पर लोभ द्वारा स्थायी हो जाता है। बात यह है कि लोभ का प्रथम अवयव सुखात्मक होने के कारण लोभी को विषय की ओर बराबर प्रवृत्त रखता है। धन का लोभी धन पाकर लोभ से निवृत्त नहीं हो जाता, या तो भले बुरे का सब विचार छोड़ रक्षा में तत्पर दिखाई देता है या और अधिक प्राप्ति में। इस प्रकार लोभ से अन्य मुख्य वृत्तियों का जो स्तभन होता है वह स्वभावातर्गत हो जाता है। अस्तु, स्थूल रूप से उद्धत लोभ के दो उग्र लक्षण कहे जा सकते हैं—

१—असंतोष।

२—अन्य वृतित्तों का दमन।

लोभ चाहे जिस वस्तु का हो, जब बहुत बढ़ जाता है तब उस वस्तु की प्राप्ति, सान्निध्य या उपयोग से जी नहीं भरता। मनुष्य चाहता है कि वह बार बार मिले या बराबर मिलती रहे। धन का लोभ जब रोग होकर चित्त में घर कर लेता है तब प्राप्ति होने पर भी और प्राप्ति की इच्छा बराबर जगी रहती है जिससे मनुष्य सदा आतुर और प्राप्ति के आनंद से विमुख रहता है। जितना नहीं है उतने के पीछे जितना है उतने से प्रसन्न होने का उसे कभी अवसर ही नहीं मिलता। उसका सारा अंतःकरण सदा अभावमय रहता है। उसके लिये जो है वह भी नहीं है। असंतोष अभावकल्पना से उत्पन्न दुःख है अतः जिस किसी मे यह अभावकल्पना स्वाभाविक हो जाती है उसका नाता सुख से सब दिन के लिये टूट जाता है। न किसी को देखकर वह प्रसन्न होता है और न उसे देखकर कोई प्रसन्न होता है। इसी से संतोष सात्विक जीवन का एक अंग बतलाया गया है। भक्तवर तुलसीदासजी संतोष वृत्ति की वाञ्छा इस प्रकार करते हैं—

"कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ?...यथालाभ संतोष सदा काहूसों कछु न चहौंगो"।

पर जिस स्थिति से कोई कष्ट या कठिनता हो उससे असंतुष्ट रहना गृहस्थ का धर्म है क्योंकि ऐसे असंतोष से जिस प्रयत्न की प्रेरणा होती है वह एक अच्छे फल के निमित्त होता है। ऐसे असंतोष का अभाव आलस्यसूचक होता है। पर

प्राप्ति की जो इच्छा व्यसन के रूप मे होती है उसका निरसन ही ठीक है।

धन का जो लोभ मानसिक व्याधि या व्यसन के रूप मे होता है उसका प्रभाव अंतःकरण की शेष वृत्तियों पर यह होता है कि वे अनभ्यास से कुंठित हो जाती हैं। जो लोग मान अपमान के भाव को, करुणा और दया के भाव को, न्याय-अन्याय के भाव को, यहाँ तक कि अपने कष्टनिवारण या सुखभोग की इच्छा तक को दबा दे, वह मनुष्यता कहाँ तक रहने देगा? जो अनाथ विधवा का सर्वस्वहरण करने के लिये कुर्कअमीन लेकर चढ़ाई करते हैं, जो अभिमानी धनिकों की दुतकार सुनकर त्योरी पर बल नहीं आने देते, जो मिट्टी मे रुपया गाड़कर न आप खाते है न दूसरे को खाने देते हैं, जो अपने परिजनों का कष्टक्रंदन सुनकर भी रुपए गिनने में लगे रहते हैं वे अधमरे होकर जीते हैं। उनका आधा अंतःकरण मारा गया समझिए। जो किसी के लिये नहीं जीते, उनका जीना न जीना बराबर है।

लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता। लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं मान अपमान में समान भाव रखते हैं। अब और चाहिए क्या? जिससे वे कुछ पाने की आशा रखते हैं वह यदि उन्हें दस गालियाँ भी देता है तो उनकी आकृति पर न रोष का कोई चिह्न प्रकट होता है

और न मन में ग्लानि होती है। न उन्हें मक्खी चूसने में घृणा होती है और न रक्त चूसने में दया। सुंदर से सुंदर रूप देखकर वे अपनी एक कौड़ी भी नहीं भूलते। करुण से करुण स्वर सुनकर वे अपना एक पैसा भी किसी के यहाँ नहीं छोड़ते। तुच्छ से तुच्छ व्यक्ति के सामने हाथ फैलाने में वे लज्जित नहीं होते। क्रोध, दया, घृणा, लज्जा आदि करने से क्या मिलता है कि वे करने जायँ? जिस बात से उन्हें कुछ मिलता नहीं जब कि उसके लिये उनके मन के किसी कोने में जगह नहीं होती तब जिस बात से पास का कुछ जाता है, वह बात उन्हें कैसी लगती होगी, यह यों ही समझा जा सकता है। जिस बात में कुछ लगे वह उनके किसी काम की नहीं—चाहे वह कष्टनिवारण हो या सुखप्राप्ति, धर्म हो या न्याय। वे शरीर सुखाते हैं; अच्छे भोजन, अच्छे वस्त्र आदि की आकांक्षा नहीं करते; लोभ के अंकुश से अपनी संपूर्ण इंद्रियों को वश में रखते हैं। लोभियो! तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इंद्रियनिग्रह, तुम्हारी मानापमानसमता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है; तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो! तुम्हें धिक्कार है!!

पक्के लोभी लक्ष्यभ्रष्ट नहीं होते, कच्चे हो जाते हैं। किसी वस्तु को लेने के लिये कई आदमी खींचतान कर रहे हैं। उनमें से एक क्रोध में आकर उस वस्तु को नष्ट कर देता है। उसे

पक्का लोभी नहीं कह सकते, क्योंकि क्रोध ने उसके लोभ को दबा दिया; वह लक्ष्यभ्रष्ट हो गया।

अब एक प्राणी के प्रति दूसरे प्राणी के लोभ का प्रसग सामने आता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। यद्यपि किसी व्यक्ति की ओर प्रवृत्ति भी जब तक एकनिष्ठ न हो, लोभ ही कही जा सकती है; पर साधारण बोलचाल में वस्तु के प्रति मन की जो ललक होती है उसे 'लोभ' और किसी व्यक्ति के प्रति जो ललक होती है उसे 'प्रेम' कहते हैं। वस्तु और व्यक्ति के विषयभेद से लोभ के स्वरूप और प्रवृत्ति में बहुत कुछ भेद पड़ जाता है, इससे व्यक्ति के लोभ को अलग नाम दिया गया है। पर मूल में लोभ और प्रेम दोनों एक ही हैं, इसका पता हमारी भाषा ही देती है। किसी रूपवान् या रूपवती को देख उस पर "लुभा जाना" बराबर कहा जाता है। अँगरेजी के प्रेमवाचक शब्द 'लव' (Love), सैक्सन के 'लुफु' (Lufu) और लैटिन के 'लुबेट' (Lubet) का सबध सस्कृत के 'लोभ' शब्द या 'लुभ्' धातु से स्पष्ट लक्षित होता हैं।

किसी व्यक्ति का लोभ वस्तु के लोभ से कितना विलक्षण होता है, अब यह देखना चाहिए। विलक्षणता का सबसे बड़ा कारण है दोनों पक्षों में मनस्तत्व का विधान। जो लुब्ध होता है उसके भी हृदय होता है, जिस पर वह लुब्ध होता है उसके भी। अतः किसी व्यक्ति का लोभी उस व्यक्ति से

केवल बाह्य संपर्क रखकर ही तुष्ट नहीं हो सकता, उसके हृदय का संपर्क भी चाहता है। अतः मनुष्य का मनुष्य के साथ जितना गूढ़, जटिल और व्यापक संबंध हो सकता है उतना वस्तु के साथ नहीं। वस्तुलोभ के आश्रय और आलंबन, इन दो पक्षों मे भिन्न भिन्न कोटि की सत्ताएँ रहती हैं। पर प्रेम एक ही कोटि की दो सत्ताओं का योग है, इससे कहीं अधिक गूढ़ और पूर्ण होता है।

वस्तु के भीतर लोभी चेतना का कोई विधान नहीं देखता जिस पर प्रभाव डालने का वह प्रयत्न करे। पर प्रेमी प्रिय की अंतःवृत्ति पर प्रभाव डालने में तत्पर रहा करता है। प्रभाव डालने की यह वासना प्रेम उत्पन्न होने के साथ ही जगती है और बढ़ी चली जाती है। किसी वस्तु पर लुब्ध होकर कोई इस चिंता मे नहीं पड़ता कि उस वस्तु को मालूम हो जाय कि वह उस पर लुब्ध है। पर किसी पर लुब्ध या प्रेमासक्त होते ही प्रेमी इस बात के लिये आतुर होने लगता है कि प्रिय को उसके प्रेम की सूचना मिल जाय। उसे इस बात की चिंता रहती है कि प्रिय को भी उससे प्रेम हो गया है, कम से कम उसके प्रेम का पता लग गया है, या नहीं—

वा निरमोहिनि रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है।
बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तौ पहिचानति ह्वै है।
ठाकुर या मन को परतीति है, जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत हैं नित मेरे लिये, इतनो तो विसेष कै जानति ह्वै है॥

इस प्रवृत्ति के मूल में कई बातें दिखाई पड़ती हैं। पहली बात तो तुष्टि का विधान है। लोभी या प्रेमी सान्निध्य या संपर्क द्वारा तुष्ट होना चाहता है। वस्तु के सान्निध्य या संपर्क के लिये तो वस्तु की ओर से किसी प्रकार की स्वीकृति या प्रयत्न की अपेक्षा नहीं। पर किसी चेतन प्राणी से प्रेम करके कोई उसके सान्निध्य या संपर्क की आशा तब तक नहीं कर सकता जब तक की वह उसमे भी सान्निध्य या संपर्क की इच्छा न उत्पन्न कर ले। दूसरी बात यह है कि प्रेम का पूर्ण विकास तभी होता है जब दो हृदय एक दूसरे की ओर क्रमशः खिंचते हुए मिल जाते हैं। इस अंतर्योग के बिना प्रेम की सफलता नहीं मानी जा सकती। अतः प्रिय को अपने प्रेम की सूचना देना उसके मन को अपने मन से मिलने के लिये न्योता देना है।

अपने प्रेम की सूचना देने के उपरांत प्रेमी प्रिय के हृदय में अपनी ओर कुछ भावों की प्रतिष्ठा चाहता है। पहले कहा जा चुका है कि सहसा उत्पन्न लोभ या प्रीति का प्रथम संवेदनात्मक अवयव है "अच्छा लगना"। वस्तु के संबंध में तो उसी वस्तु का अच्छा लगना काफी होता है। लोभियों को इस फेर में नहीं पड़ना पड़ता कि जो वस्तु उन्हें अच्छी लग रही है उसे वे भी अच्छे लगें। पर प्रेमी यह चाहने लगता है कि जिस प्रकार प्रिय मुझे अच्छा लगता है उसी प्रकार मैं भी प्रिय को अच्छा लगूँ वह अपना सारा अच्छा-

पन किसी न किसी बहाने उसके सामने रखना चाहता है। यह बराबर देखने में आता है कि जब कभी किसी नवयुवक का चित्त किसी युवती की ओर आकर्षित होता है तब ऐसे स्थानों पर जाते समय जहाँ उसके दिखाई पड़ने की संभावना होती है, उसका ध्यान कपडे लत्ते की सफाई और सजावट की ओर कुछ अधिक हो जाता है। सामने होने पर बातचीत और चेष्टा में भी एक खास ढब देखा जाता है। अवसर पड़ने पर चित्त की कोमलता, सुशीलता, वीरता, निपुणता इत्यादि का भी प्रदर्शन होता है। प्रेमी को जिस घड़ी यह पता चलता है कि प्रिय का चित्त भी उसकी ओर थोड़ा बहुत खिंचा है उसी घड़ी से वह लोभ की ऊपरी सतह से और गहरे में जाकर प्रेम के आनंदलोक मे मग्न हो जाता है।

एक दूसरे की ओर आकर्षित दो हृदयों के योग से जीवन में एक नया रस उत्पन्न हो जाता है या दूनी सजीवता आ जाती है। आनंद की संभावना भी बहुत अधिक बढ़ जाती है और दुःख की भी। प्रिय के हृदय का आनंद प्रेमी के हृदय का आनंद हो जाता है। अतः एक ओर तो प्रिय के आनद का मेल हो जाने से प्रेमी संसार की नाना वस्तुओं में कई गुने अधिक आनंद का अनुभव करने लगता है; दूसरी ओर प्रिय के अभाव में उन्हीं वस्तुओं में उसके लिये आनंद बहुत कम या कुछ भी नहीं रह जाता है। वियोग की दशा में तो वे वस्तुएँ उलटा दुःख देने लगती हैं। होते होते यहाँ तक होता

है कि प्रेमी के लिये प्रिय के आनद से अलग आनंद रह ही नहीं जाता। प्रिय के आनंद में ही वह अपना आनंद ढूँढ़ा करता है। दो हृदयों की यह अभिन्नता अखिल जीवन की एकता के अनुभवपथ का द्वार है। प्रेम का यह एक महत्त्व-पूर्ण रहस्य है।

प्रेम का प्रभाव एकात भी होता है और लोकजीवन के नाना क्षेत्रों में भी दिखाई पड़ता है। एकात प्रभाव उस अंत-मुंख प्रेम में देखा जाता है जो प्रेमी को लोक के कर्मक्षेत्र से खींचकर केवल दो प्राणियों के एक छोटे से ससार में बद कर देता है। उसका उठनाबैठना, चलनाफिरना, मरनाजीना सब उसी घेरे के भीतर होता है। वह उस घेरे के बाहर कोई प्रभाव उत्पन्न करने के उद्देश्य से कुछ भी नहीं करता। उसमें जो साहस, धीरता, दृढ़ता, कष्टसहिष्णुता आदि दिखाई देती है वह प्रेममार्ग के बीच प्रेमोन्माद के रूप में, लोक के बीच कर्त्तव्य के रूप में नहीं। साराश यह कि इस प्रकार के प्रेम का क्षेत्र सामाजिक और परिवारिक जीवन से विच्छिन्न होता है। उसमें प्रियपक्ष का प्रबल राग जीवन के अन्य सब पक्षों से पूर्ण विराग की प्रतिष्ठा कर देता है। फारसी के साहित्य में ऐसे ही ऐकातिक और लोकबाह्य प्रेम की प्रधानता है। भारतीय साहित्य में गोपियों के प्रेम को प्रायः यही स्वरूप दिया गया है। भक्तिमार्ग में प्रायः यही ऐकातिक और अनन्य प्रेम लिया गया है क्योंकि यह एक ऐसा राग है जिसके प्रभाव

से विराग की साधना आपसे आप, बिना किसी मानसिक प्रयत्न के, हो जाती है।

प्रेम का दूसरा स्वरूप वह है जो अपना मधुर और अनुरंजनकारी प्रकाश जीवनयात्रा के नाना पथों पर फेंकता है। प्रेमी जगत् के बीच अपने अस्तित्व की रमणीयता का अनुभव आप ही करता हैं और अपने प्रिय को भी कराना चाहता है। प्रेम के दिव्य प्रभाव से उसे अपने आसपास चारों ओर सौंदर्य की आभा फैली दिखाई पड़ती है, जिसके बीच वह बड़े उत्साह और प्रफुल्लता के साथ अपना कर्मसौंदर्य प्रदर्शित करता है। वह प्रिय को अपने समग्र जीवन का सौंदर्य जगत् के बीच दिखाना चाहता है। यह प्रवृत्ति इस बात का पूरा संकेत करती है कि मनुष्य की अंतःप्रकृति में जाकर प्रेम का जो विकास हुआ है वह सृष्टि के बीच सौंदर्यविधान की प्रेरणा करनेवाली एक दिव्य शक्ति के रूप में। मनुष्य का प्रेम-सौंदर्य—वस्तुसौंदर्य, कर्मसौंदर्य, वाक्सौंदर्य, भावसौंदर्य सब—देखना और दिखाना चाहता है। वीरता के पुराने जमाने में युवक योद्धा यह समझकर कि गढ़ी की ऊँची अट्टालिका के गवाक्षों से हमारी प्रेयसी झाँकती होगी, किस सौंदर्य-भावनापूर्ण उमंग के साथ रणक्षेत्र में उतरता था। कर्म का सबसे अधिक विकट क्षेत्र युद्ध है। इससे आर्य जाति के वीर-काल के काव्यों मे शृंगार और वीर का अत्यंत मनोहर समन्वय पाया जाता है। जिस प्रकार योरपीय साहित्य में वीर-

धर्म का एक युग रहा है उसी प्रकार हमारे हिंदीसाहित्य में भी। उस काल की कविता का प्रसंग अधिकतर 'युद्ध और प्रेम (Love and war) ही पाया जाता है।

भारतीय प्रबंधकाव्यों की मूल प्रवृत्ति लोकजीवन से संश्लिष्ट प्रेम के वर्णन की ओर ही रही। आदिकवि वाल्मीकि ने राम और सीता के प्रेम का विकास मिथिला या अयोध्या के महलों और बगीचों में न दिखाकर दंडकारण्य के विस्तृत कर्म-क्षेत्र के बीच दिखाया है। उनका प्रेम जीवनयात्रा के मार्ग में माधुर्य फैलानेवाला है; उससे अलग किसी कोने में चौकड़ी या आहें भरानेवाला नहीं। उसके प्रभाव से वनचर्या में एक अद्भुत रमणीयता आ गई है। सारे कँटीले पथ प्रसूनमय हो गए हैं; संपूर्ण कर्मक्षेत्र एक मधुर ज्योति से जगमगा उठा है। कोमलांगी सीता अपने प्रिय पति की विशाल भुजाओं और कंधे से ऊपर निकली हुई धनुष की वक्र कोटि पर मुग्ध निविड़ और निर्जन काननों में निःशंक विचर रही हैं। खर-दूषण की राक्षसी सेना कोलाहल करती बढ़ी आ रही है। राम कुछ मुसकरा-कर एक बार प्रेमभरी दृष्टि से सीता की ओर देखते हैं; फिर वीरदर्प से राक्षसों की ओर दृष्टि फेरकर अपना धनुष चढ़ाते हैं। उस वीरदर्प में कितनी उमंग, कितना उत्साह, कितना माधुर्य रहा होगा? सीताहरण होने पर राम का जो वियोग सामने आता है वह भी चारपाई पर करवटें बदलानेवाला नहीं है; समुद्र पार कराकर पृथ्वी का भार उतरवानेवाला है।

से विराग की साधना आपसे आप, बिना किसी मानसिक प्रयत्न के, हो जाती है।

प्रेम का दूसरा स्वरूप वह है जो अपना मधुर और अनुरंजनकारी प्रकाश जीवनयात्रा के नाना पथों पर फेंकता है। प्रेमी जगत् के बीच अपने अस्तित्व की रमणीयता का अनुभव आप ही करता हैं और अपने प्रिय को भी कराना चाहता है। प्रेम के दिव्य प्रभाव से उसे अपने आसपास चारों ओर सौंदर्य की आभा फैली दिखाई पड़ती है, जिसके बीच वह बड़े उत्साह और प्रफुल्लता के साथ अपना कर्मसौंदर्य प्रदर्शित करता है। वह प्रिय को अपने समग्र जीवन का सौंदर्य जगत् के बीच दिखाना चाहता है। यह प्रवृत्ति इस बात का पूरा संकेत करती है कि मनुष्य की अंतःप्रकृति मे जाकर प्रेम का जो विकास हुआ है वह सृष्टि के बीच सौंदर्यविधान की प्रेरणा करनेवाली एक दिव्य शक्ति के रूप में। मनुष्य का प्रेम-सौंदर्य—वस्तुसौंदर्य, कर्मसौंदर्य; वाक्सौंदर्य, भावसौंदर्य सब—देखना और दिखाना चाहता है। वीरता के पुराने जमाने में युवक योद्धा यह समझकर कि गढ़ी की ऊँची अट्टालिका के गवाक्षों से हमारी प्रेयसी झाँकती होगी, किस सौंदर्य-भावनापूर्ण उमंग के साथ रणक्षेत्र में उतरता था। कर्म का सबसे अधिक विकट क्षेत्र युद्ध है। इससे आर्य जाति के वीरकाल के काव्यों मे शृंगार और वीर का अत्यंत मनोहर समन्वय पाया जाता है। जिस प्रकार योरपीय साहित्य में वीर-

धर्म का एक युग रहा है उसी प्रकार हमारे हिंदीसाहित्य में भी। उस काल की कविता का प्रसंग अधिकतर 'युद्ध और प्रेम (Love and war) ही पाया जाता है।

भारतीय प्रबधकाव्यों की मूल प्रवृत्ति लोकजीवन से संश्लिष्ट प्रेम के वर्णन की ओर ही रही। आदिकवि वाल्मीकि ने राम और सीता के प्रेम का विकास मिथिला या अयोध्या के महलों और बगीचों में न दिखाकर दडकारण्य के विस्तृत दर्म-क्षेत्र के बीच दिखाया है। उनका प्रम जीवनयात्रा के मार्ग में माधुर्य फैलानेवाला है; उससे अलग किसी कोने में चौकड़ी या आहे भरानेवाला नहीं। उसके प्रभाव से वनचर्या में एक अद्भुत रमणीयता आ गई है। सारे कँटीले पथ प्रसूनमय हो गए है; सपूर्ण कर्मक्षेत्र एक मधुर ज्योति से जगमगा उठा है। कोमलागी सीता अपने प्रिय पति की विशाल भुजाओं और कँधे से ऊपर निकली हुई धनुप की वक्र कोटि पर मुग्ध निविड़ और निर्जन काननों में निःशंक विचर रही हैं। खर-दूषण की राक्षसी सेना कोलाहल करती बढ़ी आ रही है। राम कुछ मुसकरा-कर एक बार प्रेमभरी दृष्टि से सीता को ओर देखते है; फिर वीरदर्प से राक्षसों की ओर दृष्टि फेरकर अपना धनुष चढ़ाते हैं। उस वीरदर्प में कितनी उमँग, कितना उत्साह, कितना माधुर्य रहा होगा! सीताहरण होने पर राम का जो वियोग सामने आता है वह भी चारपाई पर करवटें बदलानेवाला नहीं है; समुद्र पार कराकर पृथ्वी का भार उतरवानेवाला है।

उस ऐकांतिक प्रेम की अपेक्षा जो प्रेमी को एक घेरे में उसी प्रकार बंद कर देता है जिस प्रकार कोई मर्ज मरीज को एक कोठरी में डाल देता है, हम उस प्रेम का अधिक मान करते हैं जो एक सजीवन रस के रूप में प्रेमी के सारे जीवन-पथ को रमणीय और सुंदर कर देता है, उसके सारे कर्मक्षेत्र को अपनी ज्योति से जगमगा देता है। जो प्रेम जीवन की नीरसता हटाकर उसमें सरसता ला दे, वह प्रेम धन्य है। जिस प्रेम का रंजनकारी प्रभाव विद्वान् की बुद्धि, कवि की प्रतिभा, चित्रकार की कला, उद्योगी की तत्परता, वीर के उत्साह तक बराबर फैला दिखाई दे उसे हम भगवान् का अनुग्रह समझते हैं। भगवद्भक्ति के लिये हम तो प्रेम की यही पद्धति समीचीन मानते हैं। जब कि प्रिय के सँबँध से न जाने कितनी वस्तुएँ प्रिय हो जाती हैं तब उस परम प्रिय के सँबँध से सारा जगत् प्रिय हो सकता है। शुद्ध भक्तिमार्ग मे जगत् से विरक्त का स्थान हम ढूँढ़ते हैं और नहीं पाते हैं। भक्ति राग की वह दिव्य भूमि है जिसके भीतर सारा चराचर जगत् आ जाता है। जो भक्त इस जगत् को ब्रह्म की ही व्यक्त सत्ता या विभूति समझेगा, भगवान् के लोकपालक और लोकरंजक स्वरूप पर मुग्ध रहेगा, वह अपने स्नेह, अपनी दया, अपनी सहानुभूति को लोक मे और फैलाएगा कि चारों ओर से खींच लेगा? हम तो जगत के बीच हृदय के सम्यक् प्रसार में ही भक्ति का प्रकृत लक्षण देखते हैं

क्यों कि राम की ओर ले जानेवाला रास्ता इसी संसार से होता हुआ गया है।

जब कोई रामभक्त पुत्र, कलत्र, भाई, बंधु का राग छोड़ने, कर्म-पथ से मुँह मोड़ने और जगत् से नाता तोड़ने का उपदेश देता है तब मेरी समझ जवाब देने लगती है। मेरे देखने में तो वही राम-भक्त सा लगता है जो अपने पुत्र, कलत्र, भाई, बहिन, माता, पिता से स्नेह का व्यवहार करता है, रास्ते में चीटियाँ बचाता चलता है, किसी प्राणी का दुःख देख आँसू बहाता हुआ रुक जाता है, किसी दीन पर निष्ठुर अत्याचार होते देख क्रोध से तिलमिलाता हुआ अत्या-चारी का हाथ थामने के लिये कूद पड़ता है, बालकों की क्रीड़ा देख विनोद से पूर्ण हो जाता है, लहलहाती हुई हरियाली देख लह-लहा उठता और खिले हुए फलों को देख खिल जाता है। जो यह सब देख 'मुझसे क्या प्रयोजन ?' कहकर विरक्त या उदासीन रहेगा—क्रोध, करुणा, स्नेह, आनंद आदि को पास तक न फटकने देगा—उसे मैं ज्ञानी, ध्यानी, संयमी चाहे जो कहूँ, भक्त कदापि न कह सकूँगा। राम का नाता सारे संसार से नाता जोड़ता है, तोड़ता नहीं। लोकमंगल की प्रेरणा द्वारा भक्त अपने 'नेह का नाता' संसार से निभाता हुआ राम से जोड़ने का प्रयत्न करता है। इस संबंधनिर्वाह में जो बाधक हों, भक्त के लिये वे अवश्य त्याज्य हैं, चाहे वे अपने सुहृद् और स्नेही परिजन ही क्यों न हों, क्योंकि—

नाते सबै राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।

ऐकांतिक और लोकबद्ध, प्रेम के इन दो स्वरूपों का परिचय हो चुका। अब हम प्रेमी और प्रिय, इन दो पक्षों की पारस्परिक स्थिति पर कुछ विचार करना चाहते हैं। प्रेम कहीं तो दोनों पक्षों में युगपद् होता है अर्थात् आरंभ ही से सम रहता है; कहीं पहले एक में उत्पन्न होकर फिर दूसरे में होता है और कहीं एक ही में उत्पन्न होकर रह जाता है, दूसरे में होता ही नहीं अर्थात् विषम ही रह जाता है। पहले कहा जा चुका है कि किसी के प्रति प्रेम का प्रादुर्भाव होते ही प्रेमी उसे अपने प्रेम का परिचय देने के लिये आतुर होता है। यह आतुरता तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा के लिये होती है जिसके बिना प्रेम सफल नहीं जान पड़ता। तुल्यानुराग के प्रयत्न की भी एक बँधी हुई पद्धति दिखाई पड़ती है।

दूसरों की ओर द्रवित करनेवाली हृदय की दो कोमल वृत्तियाँ हैं—करुणा और प्रेम। इनमें से प्रेम का पात्र होने के लिये भिन्न भिन्न प्रकार की विशिष्टता अपेक्षित होती है। इससे दूसरे के हृदय में प्रेम उत्पन्न कर सकने का निश्चय किसी को जल्दी नहीं हो सकता। पर दया का पात्र होने के लिये केवल दुःख या पीड़ा का प्रदर्शन ही पर्याप्त होता है। दया का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। दया मनुष्यमात्र का धर्म है और प्राणिमात्र उसके अधिकारी हैं। दया यह नहीं देखने जाती कि दुखी या पीड़ित कौन और कैसा है। इसी से प्रेमी कभी

तो यह चेष्टा करता दिखाई पड़ता है कि वह भी प्रिय को अच्छा लगे और कभी ऐसे उपायों का अवलंबन करता है जिनसे प्रिय के हृदय में उसके ऊपर दया उत्पन्न हो। दया उत्पन्न करके वह प्रिय के अंतस् में प्रेम की भूमिका बाँधना चाहता है। वह समझता है कि दया उत्पन्न होगी तो धीरे धीरे प्रेम भी उत्पन्न हो ही जायगा। वह वियोग की अपनी दारुण वेदना प्रिय के कानों तक बराबर पहुँचाता रहता है।

यह न समझना चाहिए कि प्रिय के हृदय में दया उत्पन्न करने की यह चाह तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा के पूर्व तक ही रहती है। यह प्रेममार्ग की एक सामान्य प्रवृत्ति है जो प्रेमी के हृदय में सदा बनी रहती है। बात यह है कि जिस प्रकार दूसरे के हृदय में प्रेम उत्पन्न करने की जरूरत होती है उसी प्रकार बराबर बनाए रखने की भी। प्रेम की रखवाली करने के लिये प्रेमी प्रिय के हृदय में दया को बराबर जगाता रहता है। दया या करुणा का भाव जाग्रत् रखने की इस प्रवृत्ति का प्रकर्ष फारसी या उर्दू की शायरी में विशेष रूप में पाया जाता है। वहाँ प्रेमी जीते जी यार के कूचे में अपनी कब्र बनवाते हैं, उस कूचे के कुत्तों के नाम अपनी हड्डियाँ वक्फ करते हैं और बार बार मरकर अपना हाल सुनाया करते हैं। मरण से बढ़कर करुणा का विषय और क्या हो सकता है? शत्रु तक का मरना सुनकर सहानुभूति का एक आध शब्द मुँह से निकल आता है। प्रिय के मुख से निकले हुए सहानु-

भूति के शब्द सा प्रिय संसार में और कोई शब्द नहीं हो सकता। 'बेचारा बहुत अच्छा था', प्रिय के मुँह से इस प्रकार के कुछ शब्दों की संभावना पर ही आशिक लोग अपने मर जाने की कल्पना बड़े आनंद से किया करते हैं। जब कि सहानुभूति के एक शब्द का इतना मोल है तब अश्रु का तो कोई मोल ही नहीं हो सकता; प्राण के बदले मे भी वह सस्ता ही जँचेगा। यदि प्रेमी को यह निश्चय हो जाय कि मर जाने पर प्रिय की आँखों में आई हुई आँसू की एक बूँद वह देख सकेगा तो वह अपना शरीर छोड़ने के लिये तैयार हो सकता है।

यह कहा जा चुका है कि तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा हो जाने पर ही प्रेम को पूर्ण तुष्टि और सफलता प्राप्त होती है। हमारे साहित्य के पुराने आचार्यों ने एक पक्ष की प्रीति को रसाभास के अंतर्गत लिया है। जब तक तुल्यानुराग की संभावना रहती है या प्रिय पक्ष की विरक्ति और उदासीनता का प्रमाण सामने नहीं रहता तब तक रस में त्रुटि नहीं मानी जाती। प्रेमी का तिरस्कार करता हुआ प्रिय जब अन्य में अनुरक्त पाया जाता है तब उसकी विरक्ति का पक्का प्रमाण सामने आ जाता है। ऐसी दशा में भी बने रहनेवाले प्रेम की चर्चा काव्यों में मिलती है। फारसी और उर्दू की शायरी में तो आशिकों की अकसर यह शिकायत रहती है कि "माशूक गैरों से मिला करता है और हमारी ओर ताकता तक नहीं"। कृष्ण के मथुरा

चले जाने पर गोपियों की शिकायत भी कुछ कुछ इसी ढंग की हो गई थी।

रस और रसाभास की बात छोड़ हमें प्रेम के उस स्वरूप पर विचार करना है जिसमें प्रेमी तो प्रेम में विह्वल रहता है और प्रिय उसकी ओर कुछ ध्यान ही नहीं देता या बराबर उसका तिरस्कार ही करता जाता है। क्या ऐसा प्रेम कोई प्रेम ही नहीं है? यह नहीं कहा जा सकता। प्रेमी तो प्रेम कर चुका, उसका कोई प्रभाव प्रिय पर पड़े या न पड़े। उसके प्रेम में कोई कसर नहीं। प्रिय यदि उससे प्रेम करके उसकी आत्मा को तुष्ट नहीं करता तो इसमें उसका क्या दोष? तुष्टि का विधान न होने से प्रेम के स्वरूप की पूर्णता में कोई त्रुटि नहीं आ सकती। जहाँ तक ऐसे प्रेम के साथ तुष्टि की कामना या अतृप्ति का क्षोभ लगा दिखाई पड़ता है वहाँ तक तो उसका वैसा उत्कर्ष प्रकट नहीं होता। पर जहाँ आत्मतुष्टि की वासना विरत हो जाती है या पहले से ही नहीं रहती, वहाँ प्रेम का अत्यंत निखरा हुआ निर्मल और विशुद्ध रूप दिखाई पड़ता है। ऐसे प्रेम की अवि-चल प्रतिष्ठा अत्यंत उच्च भूमि पर होती है जहाँ सामान्य हृदयों की पहुँच नहीं हो सकती। इस उच्च भूमि पर पहुँचा हुआ प्रेमी प्रिय से कुछ भी नहीं चाहता है, केवल यही चाहता है—प्रिय से नहीं, ईश्वर से—कि हमारा प्रिय बना रहे और हमें ऐसा ही प्रिय रहे। इसी उच्च दशा का अनुभव करती हुई सूर की गोपियाँ कहती हैं—

जहँ जहँ रहौ राज करौ तहँ तहँ, लेहु कोटि सिर भार।
यह असीस हम देति सूर सुनु 'न्हात खसै जनि बार'॥

ऐसे प्रेमी के लिये प्रिय की तुष्टि या सुख से अलग अपनी कोई तुष्टि या सुख रह ही नहीं जाता। प्रिय का सुखसंतोष ही उसका सुखसंतोष हो जाता है। बंकिम बाबू की 'दुर्गेशनंदिनी' में आयशा का जगतसिंह पर अनुराग इसी उच्च भूमि पर लाकर छोड़ा गया है। जिस दिन से उसे जगतसिंह और तिलोत्तमा के प्रेम का पता चलता है उसी दिन से वह अपने प्रेम को भौतिक कामनाओं से मुक्त करने लगती है और अंत में तिलोत्तमा के साथ जगतसिंह का विवाह करा-कर पूर्ण शांति के साथ प्रेम के विशुद्ध मानसलोक में प्रवेश करती है।

प्रेमी यदि अपने प्रेम का कोई प्रभाव प्रिय पर न देखे तो उसके सामने प्रेम की यही उच्च भूमि दिखाई पड़ती है। सान्निध्य या संपर्क की कामना के त्याग द्वारा ही वह प्रेमरक्षा और शांतिलाभ कर सकता है। यदि उसमें यह क्षमता न होगी तो प्रतिवर्त्तन (Reaction) द्वारा घोर मानसिक विप्लव और पतन की आशंका रहेगी; ईर्ष्या आदि बुरे भावों के संचार के लिये रास्ता खुल जायगा। यहाँ तक कि समय समय पर क्रोध का दौरा होगा और प्रेम का स्थान वैर ले लेगा।

प्रेमकाव्यों में प्रायः रूपलोभ ही प्रेम का प्रवर्त्तक दिखाया जाता है। किसी के उत्कृष्ट रूप गुण पर कोई मुग्ध होता है

और उसका प्रेमी बन जाता है। पर प्रेम का एक और कारण, जो रूप गुण से सर्वथा स्वतंत्र और उनकी अपेक्षा अधिक निश्चित प्रभाववाला होता है, साहचर्य है। देशप्रेम के अन्तर्गत इसका उल्लेख हो चुका है। किसी अरब को उसकी रेगिस्तानी जन्मभूमि से ले जाकर कश्मीर के हरे भरे मैदान में रख दें तो भी वह अपने देश के वियोग में रोया करेगा। इसी प्रकार जिन मनुष्यों के बीच कोई बचपन से या बहुत दिनों से रहता चला आता है, उनके प्रति उसके हृदय में एक स्थायी प्रेम हो जाता है। इस साहचर्यगत प्रेम में विशेषता यह होती है कि इसका वेग साहचर्यकाल में तो कुछ अवसरों पर ही रह रहकर व्यक्त होता है, पर विच्छेदकाल में बराबर उमड़ा रहता है। भाईबहिन, पितापुत्र, इष्टमित्र से लेकर चिरपरिचित पशुपक्षी और वृक्ष तक का प्रेम इसी ढब का होता है। रूपगुण की भावना से उत्पन्न प्रेम भी आगे चलकर कुछ दिनों में यह साहचर्यजन्य स्वरूप प्राप्त करता है। अतः प्रेम के इस स्वरूप का महत्व बराबर ध्यान में रहना चाहिए।

लोभ या प्रेम की सबसे बड़ी विलक्षणता का उल्लेख करके अब हम यह निबंध समाप्त करते हैं। यह एक ऐसा भाव है जिसकी व्यंजना हँसकर भी की जाती है और रोकर भी; जिसके व्यंजक दीर्घ निःश्वास और अश्रु भी होते हैं तथा हर्षपुलक और उछलकूद भी। इसके विस्तृत शासन के

भीतर आनंदात्मक और दुःखात्मक दोनों प्रकार के मनोविकार आ जाते हैं। साहित्य के आचार्यों ने इसी से शृंगार के दो पक्ष कर दिए हैं—संयोगपक्ष और वियोगपक्ष। कोई और भाव ऐसा नहीं है जो आलंबन के रहने पर तो एक प्रकार की मनोवृत्तियाँ और चेष्टाएँ उत्पन्न करे और न रहने पर बिल्कुल दूसरे प्रकार की। कुछ और भाव भी लोभ या प्रेम का सा स्थायित्व प्राप्त करते हैं—जैसे, क्रोध बहुत दिनों तक टिका रह जाने पर द्वेष या वैर का रूप धारण करता है और जुगुप्सा घृणा या विरक्ति का—पर यह विशेषता और किसी में नहीं पाई जाती। मनुष्य की अंतर्वृत्तियों पर लोभ या प्रेम के शासन का यही दीर्घ विस्तार देखकर लोगों ने शृंगार को 'रसराज' कहा है।

श्मशान

[बाबू ब्रजनंदन सहाय]

यहाँ आने पर सब बराबर हो जाते हैं। पंडित, मूर्ख, धनी, दरिद्र, सुंदर, कुरूप, महान्, क्षुद्र, ब्राह्मण, शूद्र, बंगाली यहाँ सब बराबर हैं। नैसर्गिक, अनैसर्गिक, सब तरह का वैषम्य यहाँ दूर हो जाता है। शाक्यसिंह, शंकराचार्य, ईसा रूसो, राममोहन, कोई ऐसा साम्यसंस्थापक इस जगत् में नहीं हुआ। इस बाजार में सब चीजों की एक दर बिक्री होती है—अति महान् एवं अति क्षुद्र, महाकवि कालिदास और तुक-बंदी करनेवाले, सब का यहाँ एक भाव है। इसी से कहता हूँ कि यह स्थान धर्मभावपूर्ण है, यह स्थान सदुपदेशपूर्ण है, यह स्थान पवित्र है।

यहाँ बैठकर यदि थोड़ी देर तक चिंता की जाय तो मनुष्य के महत्व की असारता समझ मे आती है, अहंकार चूर चूर होता है, आत्मादर संकुचित होता है, स्वार्थपरता की नीचता हृद-यगम करने मे समर्थ होता हूँ। आज हो, कल हो, या दस दिन के बाद हो, पर सभी को आकर इस श्मशान की मिट्टी में मिल जाना होगा। जो अनभिभवनीय वीर्य्य, जो दुर्ज्जय अहंकार आज तक कभी उत्पन्न हुआ था, वह इसी मिट्टी में मिल चुका है। हमारी तुम्हारी हकीकत ही क्या है? जिस

उत्कट आत्माभिमान ने यूरोप की पंडितमंडली से अहंकार के साथ कर माँगा था, वह इसी मिट्टी में मिल गया। हम तुम कौन हैं! उस दिन जिस चिंताशक्ति ने ईश्वर को भी अपना काम करने में असमर्थ कह देने का साहस किया, वह भी इस श्मशान की मिट्टी हो चुकी। हमारी तुम्हारी क्या बात है। जिस रूप की अग्नि में ट्राय जल मरा था, जिस सौंदर्य्यतरंग मे विपुल रावणवंश डूब गया था, जिस लावण्यरज्जु में जूलियस सीजर बँध गया था, जिस पवित्र सौकुमार्य्य के कारण इस पापी हृदय में कालाग्नि धधक रहा है, वह सुंदरी, वह देवी वह विलासवती, वह अनिर्व्वचनीया इसी मिट्टी में मिल गई। हम तुम किस खेत की मूली हैं! यह संसार कै दिन के लिये है? यह जीवन कै दिन का है? नदीहृदय पर उठते हुए जल-बुद्बुद की तरह जीव जिस हवा के झोंके के साथ पैदा हुआ, उसी के साथ मर मिटा। आज अभिमान में चूर होकर एक भाई को पैरों से कुचल डाला, लेकिन कल ही ऐसा दिन हो सकता है कि मुझे सियार, कुत्ते लात से ठुकरावेंगे, तो मैं भी उसका कुछ प्रतिविधान नहीं कर सकूँगा। तब अहंकार क्यों? किस लिये अहंकार? इस अनत विश्व में मैं कौन हूँ—मेरी हकीकत ही क्या है—मैं हूँ क्या! मिट्टी का पुतला! इसलिये अहकार नहीं शोभा देता। इसी से कह रहा था कि यह स्थान याद आने से सारा अहंकार—विद्या का अहंकार, प्रभुत्व का अहकार, धन का अहंकार, सौंदर्य का अहंकार, बुद्धि का

अहंकार, प्रतिभा का अहंकार, क्षमता का अहंकार, अहंकार का अहंकार—चूर्ण हो जाता है। और वह दिन! वह तो हटाए हट ही नहीं सकता; भागने से भी रक्षा नहीं हो सकती। जिन भीरु श्रेष्ठ लक्ष्मणसेन ने जीवन के भय से, मुसलमानों के हाथ में जन्मभूमि सौंपकर, मुँह का कौर भाजनपात्र में फेंककर तीर्थ की यात्रा की थी, वे भी अपनी जान नहीं बचा सके। सुना है कि स्वर्ग में वैषम्य नहीं है—ईश्वर की आँखों में सभी बराबर हैं। स्वर्ग क्या है, सो नहीं जानता—कभी देखा भी नहीं, शायद कभी देखूँगा भी नहीं। किंतु श्मशानभूमि का यह उपदेश स्पष्ट है। यह स्थान स्वर्ग की अपेक्षा भी बड़ा है। यह स्थान पवित्र है।

और स्वार्थपरता! उसकी भी क्षुद्रता अनुमित होती है। सामने असीम जलराशि अनंत प्रवाह से प्रवाहित हो रही है। पैरों के नीचे विपुला धरित्री पड़ी हुई है। मस्तक के ऊपर अनंत आकाश फैला हुआ है। उसमें असंख्य सौरमंडल, अगणित नक्षत्रलोक नाचते फिरते हुए दिखलाई पड़ते हैं—संख्यातीत धूम्रकेतु इधर उधर दिखलाई पड़ते हैं। भीतर अनंत दुःखराशि क्षुब्ध सागर के समान, मत्तमातंग के तुल्य डोल रही है। जिधर देखो उधर ही अनंत देख पड़ता है। और मैं कितना छोटा हूँ, कितना गया बीता हूँ। इसी सामान्य, इसी क्षुद्रादपि क्षुद्रतर के लिये इतना आयास, इतना यत्न, इतनी परेशानी, इतना तूलकलाम, इतना पाप होता है! बड़ी

जो जीवन
लज्जा की बात है। इसी क्षुद्र को केंद्र बनाकर क्षुद्र भले
बीत चुका, उसका महत्व कहाँ रहा! लेकिन तुम हूँ कि एक
ही हो, मानवजाति क्षुद्र नहीं है। यह मैं मानता जातिमात्र
एक मनुष्य को लेकर मनुष्यजाति बनी है, किंतु कण कण वाष्प
ही महान् है। बिंदु बिंदु जल से समुद्र होता है; बन जाती
लेकर मेघ बनता है, रेणु रेणु बालुका से मरुभूमि अणु पर-
है, क्षुद्र क्षुद्र नक्षत्रों से छायापथ तैयार होता है। एकता ही महत्व
माणु से ही यह अनंत विश्व रचा गया है। आत्मसमर्पण
है। मनुष्यजाति महान् है; महान् कार्य में कि जिस
करना ही महत्व है। हाँ, यह मैं स्वीकार करता हूँ का भी
तरह व्यक्ति का नाश होता है, उसी तरह जातिमात्र कितनी
ध्वंस होता है। ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि अब तक अनेक नई
ही प्राचीन जातियाँ पृथ्वी से लुप्त हो चुकी हैं और हानि
जातियों का आविर्भाव हुआ है। किंतु उससे अपनी इसका
ही क्या है? जिस दिन मनुष्य जाति का लोप होगा, उस दिन मनुष्य ही
लोप देखने को मैं थोडे ही बचा रहूँगा; क्योंकि मैं भी तो था, भूल
हूँ—मनुष्यजाति के ही अंतर्गत ठहरा! किंतु क्या कह रहा
ही गया।

जाती है।
यहाँ आने पर सब चीजों की समाधि बन संसार-
अच्छा, बुरा, सत्, असत् सब इसी रास्ते से होकर यहाँ शयन
परित्याग करते हैं। यह सुख का स्थान है। मिट जाती
करने पर शोकताप नष्ट हो जाते हैं, ज्वालायंत्रणा

है, सभी दुःख दूर हो जाते हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक सब दुःखों का नाश हो जाता है। लेकिन यह भी कहना पडेगा कि यह दुःख का स्थान है। यहाँ पर जो आग जलती है, वह इस जन्म में दूर नहीं होती। उस आग में सौंदर्य जल जाता है, प्रेम जल जाता है, सरलता जल जाती है, लज्जा जल जाती है, जो कुछ जलने लायक नहीं है, वह भी जल जाता है। और उसी के साथ साथ दूसरे की आशा, उत्साह, प्रफुल्लता, सुख, उच्चाभिलाष, माया सब कुछ लुप्त हो जाता है। इसी से कहता हूँ कि यह स्थान सुख का भी है, दु.ख का भी है। जो चला जाता है, उसे सुख है; जो रह जाता है, उसको दुःख है। इस संसार का यही नियम है। सब कुछ अच्छा है और सब कुछ बुरा भी है। कुसुम में सौरभ है, कटक भी है; मधु में मिष्टता है, तीव्रता भी है, सूर्यरश्मि में प्रफुल्लता है, रोग पैदा करने की शक्ति भी है। रमणी की आँखों में सौंदर्य है, सर्वनाश भी है। रमणी के हृदय मे प्रेम है, छल भी है। धन से क्षमता की वृद्धि होती है, यौवन निर्वाचन की प्रतिबंधकता भी होती है। जगत् मे कोई वस्तु निर्दोप नहीं दिखलाई पड़ती। सब में भला बुरा मिला हुआ है। इसलिये प्रकृति देखकर जहाँ तक समझता हूँ, उससे बोध होता है कि हम लोग जो यह ससार देख रहे हैं उसका जो आदि कारण है वह भी भला-बुरा मिला हुआ है, अथवा दो शक्तियों से यह जगत् उत्पन्न

हुआ है। उनमें से एक अच्छी, एक बुरी है; एक स्नेह, एक घृणा है; एक अनुराग, एक विराग है; एक आकर्षण, एक विकर्षण है। लेकिन क्या कहते कहते क्या कहने लगा!

यह जो ससार है, वह एक महाश्मशान है! निरंतर वहता हुआ कालस्रोत दिन दिन, प्रति दड, प्रति क्षण, पल पल में सबको बहाए लिए जाता है और विस्मृति के गर्भ मे डाल देता है। गत मुहूर्त्त मे जिसे देखा है, वर्त्तमान मुहूर्त्त में उसका पता नहीं है। प्राण देने पर भी वह नहीं आ सकता। इस घड़ी जो मौजूद है, दूसरे ही क्षण में वह नहीं हो जायगा—सारा ससार छान डालोगे, तो भी उसे नहीं पाओगे। वह कहाँ जाता है, कहाँ जायगा, यह जितना तुम्हें मालूम है, उतना मुझे भी मालूम है; और उसमे अधिक कोई नहीं जानता। सब जाता है, कुछ रहता नहीं—रह जाती है केवल कीर्त्ति। कीर्त्ति अक्षय है। कालिदास चले गए, शकुंतला रह गई। शेक्सपियर चले गए, हैमलेट आज तक मौजूद है। वाशिंगटन चले गए, पर अमेरिका की स्वाधीनता की ध्वजा आज भी फहरा रही है। रूसो चले गए, पर साम्यवाद का दुदुभिनाद आज तक पृथ्वी में घोषित हो रहा है। कीर्त्ति रहती है। अकीर्त्ति भी रहती है। आदमी के भलेबुरे गुण आदमी के साथ ही साथ चले जाते हैं, पर उसकी कीर्त्ति और अकीर्त्ति जगत् में रह जाती है। वाशिंगटन का स्वदेशानुराग उनके साथ ही चला गया। शेक्स-

पियर का चरित्रदोष भी उन्हीं के साथ चला गया। किंतु वे ससार का जो उपकार कर गए हैं, उसका सौरभ दिन दिन अधिकाधिक फैल रहा है। यही जगत् का सार तत्त्व है—धर्म्म की मूल भित्ति है, पुण्य का सुवर्ण-सोपान है। किंतु क्या कह रहा था।

यह ससार एक महाश्मशान है। जो चिताग्नि यहाँ धधक रही है, उसमें जो न जले, ऐसी चीज ही दुनिया में नहीं है। जड़ प्रकृति किसी का मुँह नहीं देखती। जो सामने आता है, उसी को जलाती हुई, पहले की तरह धधकती हुई, हँसती और किलकारती हुई चली जाती है। यह जो नक्षत्रों का समूह अल्पाधकार में झिलमिला रहा है, वह इस विश्वव्यापी महावह्नि की सिर्फ चिनगारियाँ हैं। इस ससार में अग्नि कहाँ नहीं है? निर्म्मल चद्रिका में, प्रफुल्ल मल्लिका में, कोकिल की काकली में, कुसुम के सौरभ में, मृदुल पवन में, पक्षियों के कूजन में, रमणी के मुखडे में, पुरुष के हृदय में—कहाँ आग नहीं धधक रहीं है? किस आग में आदमी नहीं जलता? अगर प्यार करोगे तो जल मरना होगा; और यदि नहीं प्यार करोगे तो और भी जल-भुनकर खाक हो जाना होगा। लड़केबाले न होंगे तो शून्य गृह लेकर जलना होगा; अगर होंगे तो संसारज्वाला में जलना होगा। केवल मनुष्य ही नहीं, सारे ससार के जीव जला करते हैं। प्राकृतिक निर्वाचन में जलते हैं, यौवन निर्वाचन

में जलते हैं, सामाजिक निर्वाचन में जलते हैं, परस्पर के अत्याचार से जलते हैं। कौन नहीं जलता? इस संसार में आकर कौन स्वस्थ मन से, अक्षत शरीर से चला गया? दुःख के ऊपर दुःख तो यह है कि इस पापी संसार में सहृदयता नहीं, सहानुभूति नहीं करुणा नहीं। इस अनंत जीव-समूह का इस महावह्नि में हाड़ हाड़ जल रहा है और जड़ प्रकृति केवल व्यंग्य करती है। चंद्रमा के सदा हँसमुख चेहरे पर कभी किसी ने विषाद का चिह्न देखा है? नक्षत्रराशि के सौभाग्य भरे मृदु कंपन मे कभी ह्रास या वृद्धि देखी गई है? कल्लोलिनी के कलनिनाद में कभी किसी ने स्वरविकृति देखी है? नवकुसुमिता लता के डोलने में कभी किसी ने ताल भग होते देखा है? हम लोग जल रहे हैं; किंतु यह देखो, वृक्षराजि करताली दे देकर नाच रही है। यह देखो, समीरण हँस रहा है—हा हा, हो हो!

हाय! इस तरह से और कितने दिन जला करूँगा? कब तक यह यंत्रणा दूर होगी? क्या फिर कभी तुम्हें नहीं पाऊँगा? आज हो, कल हो, दस दिन बाद हो, जन्म-जन्मातर मे हो, या युगयुगातर में हो—कभी किसी दिन तुम्हें पाऊँगा कि नहीं? अगर नहीं पाऊँगा तो क्या भूल भी नहीं सकूँगा? मुझे मन ही मन एक विश्वास है कि जिस दिन इस सैकतशय्या पर अतिम निद्रा में सोऊँगा, उसी दिन शायद उसे भूल सकूँगा। तभी शायद यह आग

जुभेगी। इसी से तो कभी कभी मरने की इच्छा होती है। फिर यह भी कहना पड़ता है कि उसे भूल जाना पडेगा, उसके साथ सम्बध नहीं रह जायगा, ऐसा विश्वास होने ही के कारण मरने की इच्छा नहीं होती। वह इस जन्म में फिर आँखों के आगे नहीं आवेगी, यह जानता हूँ; पर दिल ही दिल में उसे सदा देखा करता हूँ। वह जहाँ है, वह स्थान पवित्र है। उस मंदिर को जान-बूझकर क्यों तोड़ूँगा? वह क्या प्राण रहते तोड़ा जा सकता है। वह जब तक चिंता का विषय है, तब तक चिंता बनी रहे, यही ठीक है। बड़ी यंत्रणा होती है, तो इससे क्या? अगर उसके लिये यंत्रणा न सही तो मनुष्य-जन्म को धिक्कार है। इस प्रेम को धिक्कार है! इन प्राणों को धिक्कार है! इस परिणाम को धिक्कार है! किंतु मालूम होता है कि मैं फिर उसे पाऊँगा, शायद फिर मैं और वह दोनों मिल-कर एक होंगे। जगत् परिवर्त्तनशील है, अतएव संभव है कि वह मिट्टी और यह मिट्टी मिल सकेगी—उस कात कले-वर के परमाणुओं के साथ इस जली हुई मिट्टी के परमा-णुओं की सगति हो सकेगी। दो देहों के विलग हुए उप-करणों का पुनः मेल होकर एक नई सत्ता की सृष्टि हो सकती है। इसी से कहता हूँ कि सभव है कि परलोक में हम दोनों एक हो सकें। बम भोलानाथ! वह और मैं—जो प्राणों का प्राण है, जो जीवन का जीवन है, जो नयनों का नयन है, जो हृदय का हृदय है, वह और मैं—जो ससार की माया है,

जो जीवन की नौका है, जो गृह की आकर्षिणी शक्ति है, वह और मैं—जो संसारांधकार में चंद्रमा है, जो जीवनमरु-भूमि का शाद्वल है, जो भवसागर की तरणी है, जो जीवन-पथ की पाथशाला है, वह और मैं—जो पृथ्वी का सार है, जो स्वर्ग का आदर्श है, जो इहलोक का सर्वस्व है, जो परलोक से भी बढ़कर है, वह और मैं—जो गृहकुंज की सुखलता है, जो चितासागर की प्रफुल्ल नलिनी है, जो आशालता का आश्रय-तरु है, वह और मैं—जो संसाररूपी विदेश की स्नेहमयी संगिनी है, जो जीवनमरुभूमि का शीतल सरोवर है, जो भूत भविष्यत् रूपी अंधकार का उज्ज्वल तारा है, जो हृदयकानन का विकच कुसुम है, वह और मैं—जो आशा में विश्वास है, जो काया मे मोह है, जो प्रेम में कवित्व है, जो दुःख में सात्वना है, जो सुख मे चाहिए, वही है—वह और मैं शायद फिर भी मिल जायँगे। वह मरकर मिट्टी हुई है, मैं भी मरकर मिट्टी होऊँगा। फिर दोनों की मिट्टी एक हो जायगी। मेरी देह के परमाणुओं मे उसकी देह के परमाणु मिलेंगे। जब वह और मैं दोनों एक हो जायँगे, तब एक नई सत्ता का अभ्युदय होगा। जो सत्ता होगा वह बुरी ही क्यों न हो, पर वह मिलन कैसे सुख का मिलन होगा। वह सघटन कैसा सुखकर होगा! मेरी वह आदरणीय, वह सुहागिन, अतीत के कोमलाकाश का वह इंद्रधनुष, वर्त्तमान के अँधेरे गगन की वह सौदामिनी कैसा हृदय को आनद

देनेवाला मिलन होगा। दोनों मिलकर एक नई सत्ता का उदय करेंगे। कैसा सुखकर मिलन है! जन्मांतर में कौन संदेह करता है? आत्मा क्या है? वह शरीरयंत्र की गतिमात्र है। इसी से कहता हूँ कि शरीर का प्रत्येक परमाणु आत्मा है। मनुष्य मरने पर वृक्ष हो सकता है, तृण हो सकता है, पत्थर हो सकता है, मनुष्य हो सकता है, नक्षत्र हो सकता है, पशु हो सकता है और कीट भी हो सकता है। जो डरपोक डर के मारे घर से बाहर नहीं निकल सकता, उसी की देह में एकिलिस वा सिकंदर की, सीजर वा हनीबाल की, नेपोलियन अथवा इयामिनडास की, ब्रासिडास अथवा लाइसेंडर की, भीम अथवा अर्जुन की देह का अंश हो तो कोई अचरज की बात नहीं। राम के शरीर में संभव है कि कालडेरन अथवा लैप डी वेगार, गेटे अथवा शिलर, पिट्रार्क अथवा डांटे, कर्नेली अथवा रेसाइन, शेक्सपियर अथवा कालिदास, होमर अथवा वर्जिल, व्यास अथवा वाल्मीकि की आत्मा रही हो। संभव है कि मोहन की देह स्कालिगर अथवा मेगलियाबिक की विशिष्ट देह के उपकरण से बनी हो। यह जो हंसपुच्छ लेखनी है, संभव है कि इसके भीतर रूसो अथवा वाल्टेयर मौजूद हों। हो सकता है कि इस मसिपात्र में शाक्यसिंह अथवा कोम्ट हों। यह हृदय जिसके लिये लालायित है, संभव है कि वह इसी हृदय में हो। मनुष्य की देह का प्रतिक्षण आणविक परिवर्त्तन हो रहा है।

प्रत्येक व्यक्ति प्रति सातवें वर्ष नया कलेवर धारण करता है। उस सदा होते रहनेवाले परिवर्त्तन के प्रवाह में तैरता हुआ उस देह का परमाणु, संभव है कि, इस देह में मिल रहा हो। जगत् में कोई बात आश्चर्य की नहीं है; और सभी कुछ आश्चर्यजनक है। जो चला गया, सारा जगत् जिसके चले जाने से अंधकारमय हो गया, वह फिर लौटकर आ सकता है—चाहे युगयुगांतर में हो, कल्पांतर में हो। वह अकलंक चंद्रमा आकर फिर भी इस आकाश में दिखलाई देगा। पुन-र्जन्म असंभव नहीं है। उसमें—उस अमूल्य निधि में—जो जो चीजें थीं, सब की सब हैं। कोई वस्तु बिलकुल विलुप्त नहीं होती। सब कुछ है, केवल एकत्र नहीं है। वे सब उपकरण जगत् में विराजमान हैं। जिस दिन उसका एकत्र संघटन होगा, उसी दिन—सोचते हुए भी हृदय थिरक उठता है, प्राणों के भीतर रोमांच हो जाता है—उसी दिन फिर संसार मरुभूमि में वह सुकुमार, वह मनोहर, वह सुंदर कुसुम खिलेगा—दशों दिशाओं को उज्जवल करता हुआ जगत् से जगदंतर पर्यंत लहराता हुआ वह सौरभ विश्व के एक प्रांत से दूसरे प्रांत पर्यंत अपने पवित्र प्रवाह से पवित्र करता हुआ खिल उठेगा। पुनर्जन्म असंभव नहीं है। हिंदू धर्म में ऐसी कोई बात नहीं जो निरी भ्रमपूर्ण हो, ऐसा कोई मत नहीं जो हँसकर उड़ा देने लायक हो। जो चिंताशील है, वह सदा यही कहेगा कि हिंदू धर्म सब धर्मों से अच्छा है। ईश्वर निराकार

है, यह दिल्लगी की बात है। देह से निरपेक्ष तो कोई चैतन्य जीव इस जगत् मे दिखलाई ही नहीं देता। जब तक नहीं देखूँगा, तब तक नहीं मानूँगा। जगत का कारण इच्छामय है, यह बात मूर्ख लोग कहा करते हैं। एक कारण का एक कार्य होता है। जिस कारण से इस जगत् की उत्पत्ति हुई है, उस कारण से दूसरी तरह की सृष्टि होना असम्भव है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् और दयामय है, यह प्रलापमात्र हैं। अपने अपने हृदय से पूछ देखो। एक जीव पृथ्वी में आता है। वह मर जा सकता है, अकर्मण्य हो सकता है, पृथ्वी का बोझ हो सकता है। किंतु केवल उसके संसारप्रवेश के लिये और एक उत्कृष्टतर जीव को मृत्युयन्त्रणा भोगनी पड़ती है। उस यातना से न कोई लाभ है, न कोई विपद् दूर होती है, न कोई उद्देश्य पूरा होता है, न किसी का सुख बढ़ता है, न किसी का दुःख घटता है। तो भी वह यमयातना भोगनी ही पड़ती है। निरर्थक यातना देना जिसका काम है, वह निष्ठुर है, वह निर्दय है। किंतु दया कहते कहते दया थक गया! वह फिर आ सकती है। जो चली गई है—जगत् की माधुरी हरण कर हृदय के परदे परदे मे आग सुलगाकर, सोने के संसार को छार खार कर, सुख के पात्र में विष घोलकर, भीतर बाहर सर्वत्र नैराश्य फैलाकर जो चली गई है, वह फिर लौटकर आ सकती है। पर मैं पागल तो नहीं हो गया हूँ? कहीं वह और कहाँ मैं! वह प्रेम कहाँ है? वह सुंदर संसार कहाँ है?

परिप्लुत हृदय कहाँ है? हाय, मैं मर क्यों न गया! जिस समय वह धोखा देकर चली गई, उसी समय उसके पीछे पीछे क्यों न चला गया! जिस समय उस मुखड़े पर मृत्यु की विकट छाया पड़ी, उसी समय जहर क्यों नहीं खा लिया? वह चिता जो रात के अंधकार को दूर करती हुई भागीरथीसैकत में उजाला किए हुए थी, उसी मे क्यों न कूद पड़ा! उस सोने की सी देह की बचीखुची हड्डियों को जब कलेजे पर पत्थर रखकर प्रवाह करने गया था, उसी समय क्यों नहीं जल में डूब मरा! क्यों न फाँसी लगाकर मर गया!

कलेजा उथलपुथल होने लगा। चारों ओर अंधकार दिखलाई पड़ने लगा। कातर स्वर से, उद्भ्रांत भाव से, चिल्ला उठा—"प्राणाधिके! तुम कहाँ हो? मेरे हृदय के आलोक मेरे बाहर के अंतर, मेरे नयनों के मणि, मेरे सर्वस्व के सर्वस्व, मेरे सब कुछ, मेरे जीवनसर्वस्व, मेरी तुम कहाँ हो?" दूसरे पार से कठोर प्रतिध्वनि ने कठोर स्वर, से उत्तर दिया—"अब कहाँ?" आकाश उसी कठोर स्वर मे स्वर मिलाकर गूँजता हुआ बोला—"अब कहाँ?" यह कठोर स्वर जब दूर पहुँचकर विलीन होने लगा, तब बोला—"अब कहाँ?" मैं स्तंभित हो रहा। मुहूर्त्त भर के लिये अंतर्जगत् का अस्तित्व लुप्त हो गया। हाय! किस मूर्ख ने विधाता को प्रतिध्वनि की सृष्टि करने को कहा था?

भारतेंदु हरिश्चंद्र

[बाबू श्यामसुंदरदास]

संवत् १६५७ में इँगलैंड में ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना हुई और उसे भारतवर्ष से व्यापारसंबंध स्थापित करने का एकाधिकार दिया गया। बारह वर्ष तक उद्योग में लगे रहने के अनंतर संवत् १६६६ में इस कंपनी का पहला कारखाना सूरत में खुला। इस साधारण घटना से ब्रिटिश जाति और भारतवर्ष के पारस्परिक संबंध का सूत्रपात हुआ। क्रमशः व्यापार की वृद्धि होने लगी। डच और फरासीसी लोगों ने भी इसी समय के लगभग भारतवर्ष से व्यापारिक संबंध स्थापित किया। इन तीनों यूरोपीय जातियों में पहले तो अपना अपना व्यापार बढ़ाने के लिये बहुत कुछ स्पर्धा हुई, पर पीछे से जब यूरोप में युद्ध छिड़ गया, तब यहाँ भी उसका परिणाम देख पड़ने लगा और यहाँ भी वे जातियाँ परस्पर छोटा मोटा युद्ध करने लगीं; यह दशा बहुत वर्षों तक रही। अंत में इस सामरिक तथा व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता में अँगरेज जाति की विजय हुई और वह दृढ़तापूर्वक भारतवर्ष में अपना प्रभुत्व जमाने लगी। संवत १८१४ की पलासी की लड़ाई के उपरांत अँगरेजों के पैर इस देश में दृढ़ता से जमने लगे, परंतु अवस्था अभी तक डाँवाँ डोल थी। संवत् १८६० में मुगल साम्राज्य का अंत हो गया

और मुगलसम्राट् अँगरेजों से पेनशन पाकर अपना जीवन बिताने लगा। अब इस विस्तृत राज्य को भली भाँति शासित करने का उद्योग किया जाने लगा। संवत् १६१४ में सिपाही-विद्रोह हुआ, जिससे ब्रिटिश शासन की जड़ हिल गई, पर अँगरेजों के सौभाग्य से उन्हें थोड़े ही दिनों मे इसविपत्ति से छुटकारा मिल गया और उन्होंने इस विद्रोह का दमन करके अपने शासन की नींव दृढ़ता से जमा ली। इसके उपरांत ब्रिटिश जाति और भारतवर्ष के संबंध की घनिष्ठता दिन पर दिन बढ़ने लगी। एक व्यापारी संस्था ने वणिजव्यापार के लिये इस देश मे आकर २५० वर्षों में यहाँ अपना अटल राज्य स्थापित कर लिया।

इस दैवी घटना के कारण इंगलैंड की अपेक्षाकृत नवीन सभ्यता का भारवर्ष की प्राचीन सभ्यता से संबंध स्थापित हुआ और दोनों में संघर्षण होने लगा। विजय के उत्साह मे मग्न होकर अगरेज अपनी जाति तथा अपने देश के उपकार मे दत्तचित्त थे और अत्यंत कुशलतापूर्वक अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये प्रयत्नवान् हो रहे थे। पिछले एक सहस्र वर्षों से भारतवर्ष विदेशियों के अधीन होकर तथा उनकी सेवा-वृत्ति करके अपना जीवन बिता रहा था। एक में उत्साह, जातिप्रेम और देशाभिमान के भाव भरे हुए थे, दूसरा संकटा-पन्न होकर अपने दिन कठिनाई से काट रहा था। उसे अपने जीवन तक के लाले पड़ रहे थे, स्वार्थपरता ने उस

पर अपना पूर्ण अधिकार जमा लिया था। ऐसी अवस्था में दो भिन्न भिन्न सभ्यताओं का संघर्षण सम शक्ति से नहीं चल सकता था।

किसी लेखक का कहना है कि यूरोप के लोग पहले व्यापार का झंडा लेकर आगे बढ़ते हैं। उसके पीछे धर्म का झंडा खड़ा किया जाता है और अंत में सभ्यता का अजेय दुर्ग खड़ा होकर विजितों को अपना अस्तित्व भुलाकर उसी की महत्ता स्वीकृत करने के लिये बाध्य करता है। भारतवर्ष में भी क्रमशः ये ही घटनाएँ हुईं। जब अँगरेजों के पैर यहाँ जम गए तब उन्हें अपने शासन को सुचारु रूप से चलाने की चिंता हुई। उन्होंने भारतवर्ष को भारतीय सिपाहियों की सहायता से जीता था। अब शासन भी भारतीयों की सहायता से चलने लगा, पर शासन को ठीक ठीक चलाने के लिये शासक और शासित में परस्पर व्यवहार की आवश्यकता होती है और यह व्यवहार केवल भाषा के द्वारा संपन्न हो सकता है। अतएव यह आवश्यक हुआ कि शासक शासित की भाषा का ज्ञान प्राप्त करें और शासित शासक की भाषा का। इस पारस्परिक व्यवहारविनिमय के लिये ऐसे विद्यालयों के स्थापन की आवश्यकता हुई जहाँ अँगरेजों को भारतीय भाषाएँ सिखाई जायँ। साथ ही ऐसा आयोजन भी अनिवार्य था, अनियार्य ही नहीं वरन् परम आवश्यक था, जिससे भारतीयों को अँगरेजी भाषा का ज्ञान प्राप्त कराया जाय। इस अन्यों-

न्याश्रित व्यापार की आवश्यकता मे मात्रा का भेद रहा। शासकों के लिये भारतीय भाषाओं का व्यावहारिक ज्ञान उतना आवश्यक नहीं था जितना शासितों के लिये, क्योंकि शासितों को अपनी भाषा का ज्ञान प्राप्त कराके वे उनके द्वारा सुगमता से अपना काम चला सकते थे। इस स्थिति मे पहले तो फोर्ट विलियम कालेज मे ऐसा प्रबंध किया गया कि इँगलैंड से आए हुए नवयुवक शासकों को भारतीय भाषाओं की शिक्षा दी जाय, पर पीछे से इसकी तादृश आवश्यकता न समझी गई और यह कालेज बंद कर दिया गया। पहले चाहे जिस भाव से प्रेरित होकर यह कालेज खोला गया और फिर बंद कर दिया गया हो, पर इसने हिंदी साहित्य का रूप ही बदल दिया। अँगरेजों का यह नियम है कि वे पहले यह निश्चय कर लेते हैं कि कौन कौन सी बातें हमारे लिये आवश्यक और उपयोगी हैं और तब वे उनकी प्राप्ति के लिये प्रयत्नवान् हो जाते हैं। हमारी हिंदी भाषा का साहित्य अब तक प्रायः पद्यमय था, गद्य तो उसमें नाममात्र को था। पद्य के द्वारा पारस्परिक व्यवहार कभी चल नहीं सकता। यद्यपि सब देशों के साहित्य में पहले पद्य का ही आविर्भाव होता है, पर साथ ही परस्पर भावविनिमय के लिये गद्य का भी प्रयोग होता है। हिंदी मे भी साहित्य का आरभ पद्यरचना से हुआ है और इसके लिये व्रजभाषा का ही विशेष प्रयोग हुआ है, पर भारतवर्ष एक बहुत बड़ा देश है और प्राचीन समय

में देश के भिन्न भिन्न भागों के रहनेवालों के आने जाने तथा मिलने जुलने के साधन सुगम न होने के कारण भावविनिमय के लिये अनेक प्रांतीय भाषाओं तथा उपभाषाओं का खड-राज्य था। इस अवस्था मे जब अगरेजों को शासकों और शासितों के बीच परस्पर व्यवहार स्थापित करने की आवश्यकता हुई, तब वे इस काम के लिये भिन्न भिन्न उपभाषाओं तथा बोलियों मे से किसी एक को नहीं चुन सकते थे। इस काम के लिये उन्होंने मुख्य मुख्य प्रांतीय भाषाओं को चुना जिसमे हिंदी भी एक थी। पर हिंदी मे गद्यग्रंथ तो थे ही नहीं, इसलिये वे इन ग्रंथों के निर्माण की ओर दत्तचित्त हुए। इस प्रकार फोर्टविलियम कालेज में लल्लूजीलाल, सदल मिश्र आदि पंडितों को यह काम सौंपा गया और उन्होंने सफलतापूर्वक इसे सपन्न किया। इन घटनाओं के वशवर्ती होकर हिंदी गद्य की नींव दृढ़तापूर्वक रखी गई।

अब इस बात का विचार आरभ हुआ कि भारतवासियों को किस प्रकार की शिक्षा दी जाय और वह भी किस भाषा के द्वारा। बहुत वादविवाद तथा सोचविचार के अनंतर अँगरेजी भाषा द्वारा पाश्चात्य विद्याओं की शिक्षा देना निश्चित हुआ और उसके अनुसार भारतवर्ष के भिन्न भिन्न स्थानों में इसका प्रबध होने लगा। इस कार्य को इँगलैंडवासी कितना आवश्यक और उपयोगी समझते थे, इसका अनुमान एक इसी बात से कर लेना चाहिए कि सँवत् १९१४ मे, जब कि

सिपाहीविद्रोह भयानक रूप धारण किए हुए था, पहला विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। तब से लेकर आज तक शिक्षा का कार्य बराबर चला आ रहा है। पाश्चात्य शास्त्रों की शिक्षा देने और अँगरेजी भाषा का ज्ञान प्राप्त कराने में बड़ा अंतर है। एक से ज्ञान की वृद्धि हो सकती है, पर दूसरे से एक विदेशीय जाति के परस्पर व्यवहार की भाषा से परिचय होता है। भाषा द्वारा जो विजय प्राप्त होती है, वह चिरस्थायिनी और अधिक व्यापक होती है। अपनी निज की भाषा, अपने प्राचीन साहित्य तथा अपने प्राचीन इतिहास के ज्ञान से शून्य रहकर जब मनुष्य किसी विदेशीय भाषा, विदेशीय साहित्य और विदेशीय इतिहास का ज्ञान प्राप्त करता है और उनकी महत्ता पर मुग्ध हो जाता है, तब वह धीरे धीरे अपने आप को भूलने लगता है और अंत में विदेशीय रंग में ऐसा रँग जाता है कि उसे अपने देश की सब बातों से विराग उत्पन्न होने लगता है; उसे अपनी भाषा गँवारू और व्यंजक-शक्तिरहित जान पड़ने लगती है, अपना साहित्य हीन और अपूर्ण देख पड़ने लगता है और अपने इतिहास में पारस्परिक ईर्ष्याद्वेष के झगड़ों को छोड़कर और कुछ मिलता ही नहीं; साराश यह कि वह अपने आपको एक अशिक्षित, असभ्य और गुणहीन जाति का मनुष्य समझने लगता है। अँगरेजी शिक्षा ने बहुत दिनों तक शिक्षित भारतीयों के हृदयों पर ऐसा ही प्रभाव डालना आरंभ कर दिया था। वे सब बातों में

शासकों ही को सर्वश्रेष्ठ और अपना आदर्श मानने लगे थे; उनका अनुकरण करने में ही अपना महत्व समझते थे। रहनसहन, कपड़ेलत्ते, चालढाल, बातचीत आदि सब बातों में अँगरेज उनके आदर्श हो रहे थे। यदि यह अवस्था और कुछ काल तक बनी रहती, तो भारतवर्ष का रूप ही कुछ का कुछ हो जाता। उसमें अपने पूर्व गौरव का कोई चिह्न वर्तमान न रह जाता। वह अँगरेजी रंग में ऐसा रँग जाता कि उसे क्रिस्तान होने, अँगरेजी भाषा बोलने और अँगरेजी आचार-विचार तथा व्यवहार को अंगीकार करने में ही अपने जीवन का साफल्य जान पड़ने लगता। पर ईश्वर को यह स्वीकृत न था। उसकी तो यह इच्छा थी कि पूर्व और पश्चिम के समेलन से वृद्ध भारत फिर से जाग उठे, उसमें नई शक्ति का सञ्चार हो जाय, वह नए भावों से पूर्ण हो ससार की उन्नत जातियों में पुनः अपना महत्व स्थापित करे। संसार में जब जब ऐसे महत्व के परिवर्तन होने को होते हैं, तब तब उनको सिद्ध करने के लिये विशेष शक्तिसपन्न आत्माओं का आवि-र्भाव होता है। ब्रह्मसमाज ने बगाल को क्रिस्तान होने से बचा लिया। उत्तर भारत में स्वामी दयानद सरस्वती ने धर्म और समाजसुधार की ऐसी बलवती धारा प्रवाहित की कि देश का यह भाग अपने पूर्व गौरव को समझ और अपने प्राचीन आचारविचार से अभिज्ञ होकर क्रिस्तान होने से बच गया। वैसे ही भारतेंदु हरिश्चद्रने हिंदी भाषा में नई संजीवनी शक्ति

का संचार कर उसे इस योग्य बना दिया कि वह जातीय विकास की सहायक होकर भारतवासियों की मातृभाषा के उपयुक्त गौरव को प्राप्त करने में समर्थ हुई। पहले कहा जा चुका है कि सभ्यता की विजय राजनीतिक विजय से अधिक महत्वपूर्ण और स्थायी होती है। संयोग से जब राजनीतिक विजय के साथ सभ्यता की विजय की सहयोगिता और सहकारिता हो जाती है तब वह राजनीतिक विजय चिरस्थायिनी होकर किसी विजित देश को सदासर्वदा के लिये अपना बना लेती है। एक दूरदर्शी लेखक का कथन है कि यदि किसी देश को निरंतर दासत्व की शृंखला में बाँधे रखना हो, तो पहले उसका इतिहास नष्ट कर देना चाहिए। इसका सबसे सुगम उपाय उस देश के वासियों में अपनी मातृभाषा से अरुचि उत्पन्न करके विजेता की भाषा के प्रति विशेष अनुराग और गाढ़ी ममता उत्पन्न कर देना है। भारतवर्ष में यही उद्योग किया गया था, पर 'मेरे मन कछु और थी कर्ता के मन और'। ईश्वर ने भारतेंदु हरिश्चद्र को इस लोक में भेजकर इस प्रवाह को उलटा बहा दिया। मातृभाषा हिंदी के प्रति विराग के स्थान पर अनुराग उत्पन्न हो गया। पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त लोगों की रुचि बदल गई और उनमें अपने साहित्यभाडार को सुंदर सुंदर रत्नों से भरने की उत्कट कामना उत्पन्न हो गई।

"भारतेंदु हरिश्चद्र के समय से हिंदीसाहित्य का नया युग आरंभ होता है। इन्होंने जिस अवस्था में हिंदी को

पाया वह विलक्षण थी। पद्य में जायसी, सूर, तुलसी आदि के आख्यानकाव्यों का समय एक प्रकार से बीत चुका था। केशव के चलाए हुए नायिकाभेद, रस, अलंकार आदि को लक्ष्य करती हुई स्फुट कविताओं के छींटे उड़ रहे थे। गद्य प्रेमसागर, सिंहासनबत्तीसी और बैतालपचीसी से ही संतोष किए बैठा था।

"यद्यपि देश में नए नए भावों का संचार हो गया था, पर हिंदी भाषा उनसे दूर थी। लोगों की अभिरुचि बदल चली थी, पर हमारे साहित्य पर उसका प्रभाव नहीं पड़ा था। शिक्षित लोगों के विचारों और व्यापारों ने दूसरा मार्ग तो पकड़ लिया था, पर उनका साहित्य उसी पुराने मार्ग पर था। ये लोग समय के साथ स्वयं तो कुछ आगे बढ़ आए थे, पर जल्दी में अपने साहित्य को साथ न ले सके। उसका साथ छूट गया और वह उनके कार्यक्षेत्र से अलग पड़ गया। प्रायः सभी सभ्य जातियों का साहित्य विचारों और व्यापारों से लगा हुआ चलता है। यह नहीं कि उनकी चिंताओं और कार्यों का प्रवाह तो एक ओर हो और उनके साहित्य का प्रवाह दूसरी ओर। फिर यह विचित्र घटना यहाँ कैसे हुई ? बात यह है कि जिन लोगों के हृदय में नई शिक्षा के प्रभाव से नए विचार उत्पन्न हो चले थे, जो अपनी आँखों से देशकाल का परिवर्तन देख रहे थे, उनमें अधिकांश तो ऐसे थे जिनका कई कारणों से हिंदीसाहित्य से लगाव छूट सा गया था,

और शेष ऐसे थे जिन्हे हिंदीसाहित्य का मंडल बहुत ही बद्ध और परिमित दिखाई देता था तथा जिन्हे नए विचारों को सन्निविष्ट करने के लिये स्थान ही नहीं सूझता था। उस समय एक ऐसे साहसी और प्रतिभासंपन्न पुरुष की आवश्यकता थी जो कौशल से इन बढ़ते हुए विचारों का मेल देश के परंपरागत साहित्य से करा देता। बाबू हरिश्चंद्र का प्रादुर्भाव ठीक ऐसे ही समय में हुआ और वे यह कार्य करने मे समर्थ हुए।"

भारतेंदुजी की साहित्यसेवारूपी सरिता अनेक धाराओं में प्रवाहित हुई थी। नाटक, आख्यान, काव्य, स्तोत्र, परिहास, इतिहास, माहात्म्य इत्यादि भिन्न भिन्न विषयों पर इनकी लेखनी परिचालित हुई थी। साधारणतः हम इनकी रचनाओं को दो मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं—पद्यात्मक रचनाएँ और गद्यात्मक रचनाएँ। इन दोनों प्रकार की रचनाओं में हम समान रूप से एक व्यापक भाव पाते हैं। चाहे जैसा अवसर हो और चाहे जिस प्रकार की रचना की आवश्यकता हो, भारतेंदुजी अपने देश को नहीं भूलते, घूमफिरकर इन्हे उसके पूर्व गौरव, वर्तमान हीन अवस्था और भविष्य का ध्यान आ ही जाता है और वे तत्संबंधी अपने हृदयोद्गारों को रोक नहीं सकते। जिस समय भारतीय सेना के मिस्र में विजय प्राप्त करने का समाचार इस देश में पहुँचा, काशी में इस उपलक्ष में बड़ा आनंद मनाया गया। भारतेंदुजी ने उस अवसर पर

"विजयिनी विजय वैजयंती" शीर्षक कविता लिखकर अपना आनंद प्रकट किया था। युद्ध की घटना का इस प्रकार साधारण वर्णन करते हुए—

तड़ित तार के द्वार मिल्यो सुभ समाचार यह—
भारतसैना कियो घोर संग्राम मिश्र महँ।
जेनरल मकफरसन आदिक जे सेनापतिगन।
तिन लै भारतसैन कियो भारी अति ही रन।
बोलि भारती सैन दई आयसु उठि धाओ।
अभिमानी अरबी वेगहि बेगहि गहि लाओ।
सुनि कै सबहि परम वीरता आज दिखाई।
सत्रुगनन सों सन्मुख भारी करी लराई।
छिन में सत्रु भगाइ यख्यो अरबी पासा कहँ।
तीन सहस रनबीर करे चँधुआ समर महँ।
आरजगन को नाम आजु सबही रख लीनो।
पुनि भारत को सीस जगत महँ उन्नत कीनो॥

जहाँ भारतवर्ष का नाम आया, ये अपने को सँभाल नहीं सके और अपने प्यारे देश के विषय में इस प्रकार कह चले—

कित अर्जुन कित भीम कित, करन नकुल सहदेव।
कित विराट अभिमन्यु कित, द्रुपद सल्य नरदेव॥

प्राचीन गौरव का स्मरण करते ही उन्हे वर्तमान दीन अवस्था का भी स्मरण हो आता है।

हाय वहै भारत भुव भारी, सबही विधि ते भई दुखारी।

यह कहा जा सकता है कि यह विषय ही ऐसा था कि कवि की लेखनी इस प्रकार चंचल हो उठी। पर यही प्रवृत्ति उनके नाटकों में भी देख पड़ती है। भारत-दुर्दशा, नीलदेवी, अँधेरनगरी आदि रचनाओं में देशहितैषिता के भाव कूट कूट-कर भरे हैं। भारत-दुर्दशा के आरंभ में ही वे लिखते हैं—

रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई॥
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो।
सबके पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनों।
अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई॥
जहँ भए शाक्य हरिचंदरु नहुष ययाती।
जहँ राम युधिष्ठिर बासुदेव सर्याती।
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती।
तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती।

इसी नाटक के छठे अंक के आरम्भ में भारतभाग्य से कहलाते हैं—

सोवत निसि कैस गंवाई, जागो जागो रे भाई।
निसि की कौन कहै दिन बीत्यो कालराति चलि आई।
देख परत नहिं हित अनहित कछु परे बैरि बस जाई।

निज उद्धार पंथ नहि सूझत सीस धुनत पछुताई।
अबहुँ चेति पकरि राख्यो किन जो कछु बची बड़ाई।
फिरि पछिताए कछु नहिं ह्वैहै रहि जैहो मुंह बाई॥

इसके आगे भारत के प्राचीन गौरव का ऐसा सुंदर चित्र खींचा गया है जिसे पढ़ते ही रोमांच हो आता है और हृदय देशाभिमान से पूर्ण हो जाता है, पर अंत मे अपनी वर्तमान अवस्था देखकर कवि का यह कहना "सोई भारत की आज यह भई दुरदशा हाय" उसके क्षोभ, उसकी निराशा और उसकी उद्विग्नता सूचित करता है। इसी प्रकार नीलदेवी के सातवें अक मे "सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा" आदि पक्तियों मे उन्होंने भारतवर्ष की वर्तमान और भावी अवस्था का कैसा सच्चा पर साथ ही कितना हृदयविदारक चित्र अकित किया है जिसे पढ़कर भारतमाता का कौन ऐसा पुत्र होगा जिसका हृदय विचलित न हो उठे और जिसके मुँह से अनायास आह न निकल पड़े? जब मनुष्य सब ओर से हार जाता है तब उसका ध्यान दीनदुखियों के एकमात्र आश्रय परमेश्वर की ओर जाता है और वह उसकी शरण मे जाकर अपने त्राण की प्रार्थना करता है। नीलदेवी के आठवें अक मे यह विनय कितनी हृदयस्पर्शी और द्रावक है—

कहाँ करुनानिधि केसव सोए!
जागत नेक न यदपि बहुत विधि भारतवासी रोए।
इक दिन वह हो जब तुम छिन नहिं भारतहित बिसराए।

उत के पसु गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए।
इक दिन दीन हीन नर के हित तुम दुख सुनि अकुलाई।
अपनी संपत्ति जानि इनहि तुम रह्यो तुरंतहि धाई।
प्रलयकाल सम जौन सुदरसन असुर-प्रान-संहारी।
ताकी धार भई अब कुंतित हमरी वेर मुरारी।
दुष्ट जवन बरबर तुव संतति घास साग सम काटैं।
एक एक दिन सहस सहस नर सीस काटि भुव पाटैं।
ह्वै अनाथ आरत कुलविधवा बिलपहिं दीन दुखारी।
बल करि दासी तिनहिं बनावहिं तुम नहिं लजत खरारी।
कहाँ गए सब शास्त्र कहा जिन भारी महिमा गाई।
भक्तवछल करुनानिधि तुम कहँ गायो बहुत बनाई।
हाय सुनत नहिं निठुर भए क्यों परम दयाल कहाई!
सब विधि बूड़त लखि निज देसहिं लेहु न अबहुं बचाई॥

इस नाटक के सबंध में भी वही आपत्ति खड़ी की जा सकती है जो 'विजयिनी विजय वैजयंती' में हो सकती है, पर शृंगार-रस-पूर्ण "कर्पूरमंजरी" के प्रशस्तिवाक्य को देखिए—

उन्नत चित ह्वै आर्य परस्पर प्रीति बढ़ावैं।
कपट नेह तजि सहज सत्य व्यौहार चलावैं।
जवन संसरगजात दोषगन इनसों छूटैं।
सबैं सुपथ पथ चलैं नितहि सुख संपति लूटैं।
तजि विविध देवरति कर्ममति एक भक्ति पथ सब गहैं।
हिय भोगवती सम गुप्त हरि प्रेम धार नितही बहैं॥

इसी प्रकार 'सत्य हरिश्चन्द्र' का प्रशस्ति वाक्य है, जिसका उपयोग 'कविवचन सुधा' के सिद्धांत वाक्य में किया गया है। ऐसे ही और भी अनेक उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं। और तो और, प्रबोधिनी एकादशी पर भगवान् को जगाने के लिये "जागो मंगलरूप सकल ब्रजजन रखवारे" कहते हुए भी उन्हें भारतभूमि का स्मरण हो आता है और वे यहाँ के प्राचीन गौरव की बातें कहते कहते भगवान् से यह प्रार्थना किए बिना नहीं रह सकते—

जागो हौं बलि गई विलंब न तनिक लगावहु।
चक्र सुदर्सन हाथ धारि रिपु मारि गिरावहु।
थामहु थिर करि राज छत्र सिर अटल फिरावहु।
मूरखता दीनता कृपा करि बेग नसावहु।
गुन विद्या धन बल मान बहु सबै प्रजा मिलिकै लहै।
जय राज राज महराज की आनँद सों सब ही कहै॥
सब देसन की कला सिमिटिकै इतनी आवै।
कर राजा नहिं लेइ प्रजन पै हेत बढ़ावै॥
गाय दूध बहु देहिं तिनहिं कोऊ न नसावै।
द्विजगन आस्तिक होहिं मेघ सुभ जल बरसावै॥
तजि छुद्र बासना नर सबै निज उछाह उन्नति करहिं।
कहि कृष्ण राधिकानाथ जय हमहूँ जिय आनँद भरहिं॥

सारांश यह कि भारतेंदु हरिश्चद्र के हृदय में सब अवसरों, सब अवस्थाओं और सब कालों पर अपने देश की स्मृति

जाग्रत हो उठती थी और वे उसी की भलाई की कामना निरंतर करते रहते थे। इसी देशभक्ति के भाव से प्रेरित होकर वे सब कार्यों मे प्रवृत्त होते थे। यह उनका जोवनव्यापी भाव और ध्येय था। हमारी समझ मे भारतेंदुजी की इतनी महत्ता इसलिये नहीं मानी जानी चाहिए कि वे उच्च कोटि के कवि, हिंदी को नया जीवन तथा स्वरूप देनेवाले आदरणीय गद्यलेखक, अथवा नाट्यसाहित्य की नींव रखनेवाले नाट्यकार थे, जितनी इस बात के लिये मानी जानी चाहिए कि वे भारतभूमि की हितचिन्ता में निरत रहकर उसके अभ्युदय की सदा कामना करनेवाले, अपने सब कामों मे उसी आदर्श को सामने रखकर कार्यक्षेत्र मे अवतीर्ण होनेवाले और उसकी सिद्धि के लिये अपने आपको तथा अपना सर्वस्व उसके लिये निछावर कर देनेवाले थे। देशहितैषिता ही उनका मुख्य प्रेरक भाव था, और सब बातें गौण तथा उसी मुख्य भाव की पुष्टि के लिये थीं।

भारतेंदुजी ने ३४ वर्ष और ४ महीने की आयु पाई और १६ वर्ष की आयु में उनके सार्वजनिक जीवन का आरंभ हुआ। इस हिसाब से वे लगभग १८ वर्ष तक अपने देश की सेवा तथा अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये कार्य कर सके। इस अल्पकाल ही में उन्होंने जो कुछ कर दिखाया वह उनकी स्मृति को सदा बनाए रखने के लिये आवश्यकता से अधिक है। उत्तर भारत पाश्चात्य सभ्यता और पाश्चात्य

शिक्षा के प्रवाह में वह चला था, उसमें वह इतना निमग्न हो चला था कि उसे अपने वास्तविक रूप का ज्ञान ही न रह गया था। इस प्रवाह में उसका पुराना साहित्य पीछे छूट गया था और एक प्रकार से देश की साधारण स्थिति से उसका संपर्क कम होता जाता था तथा उसकी भाषा नए नए भावों और विचारों को प्रकट करने में असमर्थ हो रही थी। ऐसी स्थिति में साहित्य के प्रवाह को देश-काल के अनुकूल बहाकर तथा भाषा को नया रूप देकर अपने देश की, अपने साहित्य की और अपनी भाषा की उन्होंने रक्षा कर ली। यद्यपि भारतेंदुजी की साहित्यिक सेवा अमूल्य थी पर उनका महत्व उसके कारण इतना नहीं है जितना हिंदी भाषा को संजीवनी शक्ति देकर उसे देशकाल के अनुकूल सामर्थ्ययुक्त बनाने और देशहितैषिता के भावों को अपने देशवासियों के हृदयों में उत्पन्न करने में था। लल्लू-जी लाल ने जिस भाषा को नया रूप दिया, लक्ष्मणसिंह ने जिसे सुधारा, उसको परिमार्जित और सुंदर साँचे में ढालने का श्रेय भारतेंदुजी को प्राप्त है। इनके समय में भी इस बात का झगड़ा चल रहा था कि हिंदी उर्दूमिश्रित हो या नहीं। राजा शिवप्रसादजी उर्दूमिश्रित भाषा के पक्षपाती और उर्दू शैली के पृष्ठपोषक थे। भारतेंदुजी ने इसके विरुद्ध शुद्ध हिंदी का पक्ष लिया और उसको नए साँचे में ढालकर एक नवीन शैली की स्थापना की। उनकी भाषा में माधुर्य गुण की

प्रचुरता है तथा वह प्रौढ़ता और परिमार्जितता से संपन्न है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि 'हरिश्चंद्र मैगजीन' के उदय के साथ संवत् १६३० मे हिंदी नए साँचे में ढली।

भारतेंदुजी के जीवन का उद्देश्य अपने देश की उन्नति के मार्ग को साफसुथरा और लंबाचौड़ा बनाना था। उन्होंने इसके काँटों और कंकड़ों को दूर किया, उसके दोनों ओर सुंदर सुंदर क्यारियाँ बनाकर उनमे मनोरम फलफूलों के वृक्ष लगाए। इस प्रकार उसे ऐसा सुरम्य बना दिया कि भारतवासी उस पर आनंद पूर्वक चलकर अपनी उन्नति के इष्ट स्थान पर पहुँच सकें। यद्यपि भारतेंदुजी अपने लगाए हुए वृक्षों को फलफूलों से लदा न देख सके, फिर भी हमको यह कहने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता कि वे अपने जीवन के उद्देश्य मे पूर्णतया सफल हुए। हिंदी भाषा और साहित्य की जो उन्नति आज देख पड़ रही है उसके मूल कारण भारतेंदुजी हैं और उन्हे ही इस उन्नति के बीज को आरोपित करने का श्रेय प्राप्त है। यदि वे उसकी भावी उन्नति का मार्ग परिष्कृत न करते, उसे सुरम्य न बनाते, तो अब तक उसका अस्तित्व ही लुप्त हो जाता और साथ ही देश के रूप-रंग में ऐसा परिवर्त्तन हो जाता कि वह कठिनता से पहचाना जा सकता। उन्होंने अपने अध्यवसाय से, अपने स्वार्थत्याग से, अपनी प्रतिभा से, अपनी देशहितैषिता से, अपने सर्वस्व को आहुति देकर उसे स्थायी रूप दे दिया और उसे अंधकूप में

गिरने से बचा लिया। इस भारतीय आकाश के चंद्रमा को अस्त हुए आज ४२ वर्ष हो चुके पर उसकी यशचंद्रिका ज्यों की त्यों चारों ओर अब तक छिटक रही है और जब तक इस भारतभूमि में हिंदीभाषा, हिंदीसाहित्य और हिंदीभाषाभाषियों का नाम रहेगा तब तक यह चंद्रिका भी नित्य नई उज्ज्वलता से छिटककर भारतीय इतिहास को उज्वल और हिंदीसाहित्यसेवियों के मार्ग को प्रकाशित कर उन्हें उत्साहित करती रहेगी—

जब लौं भारतभूमि मध्य आरजकुल बासा।
जब लौं आरजधर्म माँहिं आरज विश्वासा।
जब लौं गुन आगरी नागरी आरज बानी।
जब लौं आरजबानी के आरज अभिमानी।
तब लौं यह तुम्हरो नाम थिर चिरजीवी रहिहै अटल।
नित चंद सूर सम सुमिरिहैं, हरिचंदहु सज्जन सकल।

[श्रीधर पाठक]
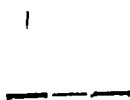
'ताज'

[महाराज-कुमार रघुवीर सिंह]

मनुष्य को स्वयं पर गर्व है। वह स्वयं को जगदीश की अत्युत्तम तथा सर्वश्रेष्ठ कृति समझता है। वह अपने व्यक्तित्व को चिरस्थायी बनाया चाहता है। मनुष्यजाति का इतिहास क्या है? उसके सारे प्रयत्नों का केवल एक ही उद्देश्य है। चिरकाल से मनुष्य यही प्रयत्न कर रहा है कि किसी प्रकार वह उस अप्राप्य अमृत को प्राप्त करे, जिसे पीकर वह अमर हो जाय। किंतु अभी तक उस अमृत का पता नहीं लगा। यही कारण है कि जब मनुष्य को प्रतिदिन निकटतम आती हुई रहस्यपूर्ण मृत्यु की याद आ जाती है तब उसका हृदय तड़पने लगता है। भविष्य में आनेवाले अंत के तथा उसके अनंतर अपने व्यक्तित्व के ही नहीं, सर्वस्व के विनष्ट होने के विचारमात्र से ही मनुष्य का सारा शरीर सिहर उठता है। मनुष्य चाहता है कि किसी प्रकार वह इस अप्रिय सत्य को भूल जाय और उसे ही भुलाने के लिये, अपनी स्मृति से, अपने मस्तिष्क से उसे निकाल बाहर करने ही के लिये, कई बार मनुष्य सुखसागर में मग्न होने की चेष्टा करता है। कई व्यक्तियों का हृदय तो इस विचारमात्र से ही विकल हो उठता है कि समय के उस भयानक प्रवाह में वे स्वयं ही नहीं, किंतु

उनकी समग्र वस्तुएँ, स्मृतियाँ, स्मृतिचिन्ह आदि सब कुछ बह जायँगे; इस ससार मे तब उनके सासारिक जीवन का चिह्न मात्र भी न रहेगा और उनको याद करनेवाला भी कोई न मिलेगा। ऐसे मनुष्य इस भौतिक ससार में अपनी स्मृतियाँ—अमिट स्मृतियाँ - छोड़ जाने को विकल हो उठते हैं। वे जानते है कि उनका अत अवश्यंभावी है, किंतु सोचते हैं कि सभव है उनकी स्मृतियाँ ससार में रह जायँ। पिरेमिड, स्फिक, बडे बडे मकबरे, कीर्तिस्तंभ, कीलियाँ, विजयद्वार, विजयतोरण आदि कृतियाँ मनुष्य की इसी इच्छा के फल हैं। एक तरह से देखा जाय तो इतिहास भी, अपनी स्मृति को चिरस्थायी बनाने की मानवीय इच्छा का एक प्रयत्न है। यों अपनी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिये मनुष्य ने भिन्न भिन्न प्रयत्न किए, किसी ने एक मार्ग का अवलंबन किया, किसी ने दूसरे का। कई एक विफल हुए, अनेकों के ऐसे प्रयत्नों का आज मानवसमाज की स्मृति पर चिन्ह तक विद्यमान नहीं है। बहुतों के ऐसे प्रयत्नों के खडहर आज भी सारे संसार में यत्र-तत्र दिखाई देते हैं। वे आज भी मूक भाव से मनुष्य की इस इच्छा को देखकर हँसते हैं तथा रोते हैं। मनुष्य की विफलता पर तथा अपनी दुर्दशा पर वे आँसू गिराते हैं। परतु यह देखकर कि अभी तक मनुष्य अपनी पिफलता को नहीं जान पाया, अभी तक उसकी वही इच्छा, उसकी वही आशा उसका पीछा नहीं छोड़ती है। मनुष्य अभी तक उन्हीं के चंगुल में फँसा

हुआ है। वे मूक भाव से मनुष्य की इस अद्भुत मृगतृष्णा पर विक्षिप्त कर देनेवाला अट्टहास करते हैं।

परंतु मनुष्य का मस्तिष्क विधाता की एक अद्वितीय कृति है। यद्यपि समय के सामने किसी की नहीं चलती, तथापि कई एक मस्तिष्कों ने ऐसी खूबी से काम किया है, उन्होंने ऐसी चालें चली हैं कि वे समय के उस प्रलयकारी भीषण प्रभाव को रोकने में समर्थ हुए हैं। उन्होंने समय को अनुपम सौंदर्य के अदृश्य पाश मे बाँध डाला, उसे अपनी कृतियों की अनोखी छटा दिखाकर लुभाया है; यों उसे भुलावा देकर कई बार मनुष्य अपनी स्मृति को ही नहीं किंतु अपने भावों के स्मारकों को भी चिरस्थायी बना सका है। ताजमहल भी मानवमस्तिष्क की ऐसी ही अद्वितीय सफलता का एक अद्-भुत उदाहरण है।

× × × ×

वह अंधकारमयी रात्रि थी। सारे विश्व पर घोर अंध-कार छाया हुआ था तो भी जग सोया न था। ससार का ताज, भारतीय साम्राज्य का वह सितारा, भारतसम्राट् के हृदयकुमुद का वह चाँद आज सर्वदा के लिये नष्ट होने को था। शिशु को जन्म देने मे माता की जान पर आ बनी थी। अंतिम घड़ियाँ थीं उन सुखमय दिनों का, प्रेम तथा सुख से पूर्ण छलकते हुए उस काल का अब अत होनेवाला था। संसार कितना अचिरस्थायी है।

वह टिमटिमाता हुआ दीपक, भारत सम्राट् के स्नेह का वह जलता हुआ चिराग, बुझ रहा था। अब भी स्नेह बहुत था, किंतु अकाल काल का झोंका आया। वह झिलमिलाती हुई लौ उसे सहन नहीं कर सकी। धीरे धीरे प्रकाश कम हो रहा था; दुर्दिन की काली घटाएँ उस अँधेरी रात्रि के अधकार को अधिक कालिमामय बना रही थीं; आशाप्रकाश की अतिम ज्योति रेखाएँ निराशा के उस अधकार में बिलीन हो रही थीं। और तब. . सब अँधेरा ही अँधेरा था।

इस सासारिक यात्रा की अपनी सहचरी प्राणप्रिया से अंतिम भेट करने शाहजहाँ आया। जीवनदीपक बुझ रहा था, फिर भी अपने प्रेमी को, अपने जीवनसर्वस्व को देखकर पुनः एक बार लौ बढ़ी, बुझने से पहले की ज्योति हुई, मुमताज के नेत्र खुले। अतिम मिलाप था। उन अंतिम घड़ियों में, उन आँखों के द्वारा क्या क्या मौनालाप हुआ होगा, उन दोनों प्रेमियों के हृदयों मे कितनी उथलपुथल मची होगी, उसका कौन वर्णन कर सकता है? प्रेमाग्नि से धधकते हुए उन हृदयों की बातें लेखक की यह कठोर लेखनी काली स्याही से पुते हुए मुँह से नहीं लिख सकती।

अतिम क्षण थे, सर्वदा के लिये वियोग हो रहा था, देखती आँखों शाहजहाँ का सर्वस्व लुट रहा था और वह भारतसम्राट् हताश हाथ पर हाथ धरे बैठा किस्मत को रो रहा था। सिंहासनारूढ हुए कोई तीन वर्ष भी नहीं बीते

थे कि उसकी प्रियतमा इस लोक से विदा होने की तैयारी कर रही थी। शाहजहाँ की समस्त आशाओं पर, उसकी सारी उमगों पर, पाला पड रहा था। क्या क्या आशाएँ थीं, क्या क्या अरमान थे! जब समय आया, उनके पूर्ण होने की आशा थी तभी एकाएक शाहजहाँ को उसकी जीवन-सगिनी ने छोड़ दिया। ज्योंही सुखमदिरा का प्याला ओठों को लगाया कि वह प्याला गिर पड़ा, चूर चूर हो गया और वह सुख-मदिरा मिट्टी में मिल गई, पृथ्वीतल में समा गई, सर्वदा के लिये अदृष्ट हो गई।

हाय! अत हो गया, सर्वस्व लुट गया। परम प्रेमी, जीवन का एक मात्र साथी सर्वदा के लिये छोडकर चल बसा। भारत सम्राट् शाहजहाँ की प्रेयसी, सम्राज्ञी मुमताज-महल सदा के लिये इस लोक से विदा हो गई। शाहजहाँ भारत का सम्राट् था, जहाँ का शाह था, परंतु वह भी अपनी प्रेयसी को जाने से नहीं रोक सका। दार्शनिक कहते है, जीवन एक बुदबुदा है, भ्रमण करती हुई आत्मा के ठहरने की एक धर्मशाला मात्र है। वे यह भी कहते है कि इस जीवन का सग तथा वियोग क्या है, एक प्रवाह मे साथ बहते हुए लकड़ी के टुकड़ों के साथ तथा विलग होने के समान है। परतु क्या ये विचार एक संतप्त हृदय को शात कर सकते है? क्या ये भावनाएँ चिरकाल की विरहाग्नि मे जलते हुए हृदय को सात्वना प्रदान कर सकती हैं? सांसारिक जीवन की

व्यथाओं से दूर बैठा हुआ, सांसारिक जीवनसंग्राम का एक तटस्थ दर्शक भले ही कुछ भी कहे, किंतु जीवन के इस भीषण संग्राम में युद्ध करते हुए, सांसारिक घटनाओं के कठोर थपेडे खाते हुए, हृदयों की क्या दशा होती है, वह एक भुक्तभोगी ही कह सकता है।

× × × ×

वह चली गई, सर्वदा के लिये चली गई। अपने रोते हुए प्रेमी को, अपने जीवनसर्वस्व को, अपने बिलखते हुए प्यारे बच्चों को तथा समग्र दुखी संसार को छोड़कर, उस अँधियारी रात में न जाने वह कहाँ चली गई। चिरकाल का वियोग था। शाहजहाँ की आँख से एक आँसू ढलका, उस संतप्त हृदय से एक आह निकली।

वह सुंदर शरीर पृथ्वी की भेंट हो गया; अगर कुछ शेष रहा तो उसकी वह सुखप्रद स्मृति तथा उस स्मृति पर, उसके उस चिरवियोग पर, आहें तथा आँसू। संसार लुट गया और उसे पता भी न लगा। संसार की वह सुंदर मूर्ति, मृत्यु के अदृश्य क्रूर हाथों चूर्ण हो गई। और उस मूर्ति के वे भग्नावशेष! जगन्माता पृथ्वी ने उन्हें अपने अंचल में समेट लिया।

शाहजहाँ के वे आँसू तथा वे आहें विफल न हुईं। उन तप्त आँखों तथा उस धधकते हुए हृदय से निकलकर वे इस बाह्य जगत् में आए थे। वे भी समय के साथ सर्द होने लगे। समय के ठंढे झोंकों के थपेड़े खाकर उन्होंने एक

ऐसा सुंदर स्वरूप धारण किया कि आज भी न जाने कितने आँसू ढलक पड़ते हैं और न जाने कितने हृदयों में हलचल मच जाती है। अपनी प्रेयसी के वियोग पर बहाए गए शाहजहाँ के वे आँसू चिर-स्थायी हो गए।

सब कुछ समाप्त हो गया था, किंतु अब भी कुछ आशा शेष रही थी। शाहजहाँ का सर्वस्व लुट गया था, तो भी उस स्तब्ध रात्रि में अपनी मृत्यून्मुख प्रियतमा के प्रति उस अंतिम भेंट के समय किए गए अपने प्रण को वह नहीं भूला था। उसने सोचा कि अपनी प्रेयसी की यादगार में, भारत के ही नहीं संसार के उस चाँद की उन शुष्क हड्डियों पर एक ऐसी क़ब्र बनावे की वह संसार के मकबरों का ताज हो। शाहजहाँ को सूझी कि अपनी प्रेयसी की स्मृति को तथा उसके प्रति अपने अगाध शुद्ध प्रेम को स्वच्छ, श्वेत स्फटिक के सुचारु स्वरूप में व्यक्त करे।

धीरे धीरे भारत की उस पवित्र महानदी यमुना के तट पर एक मकबरा बनने लगा। पहले लाल पत्थर का एक चबूतरा बनवाया गया, उस पर सफेद संगमरमर का ऊँचा चबूतरा निर्माण किया गया, जिसके चारों कोनों पर चार मीनार बनाए गए जो बेतार के तार से, चारों दिशाओं में उस सम्राज्ञी की मृत्यु का समाचार सुना रहे हैं तथा उसका यशोगान करते हैं। मध्य में शनैः शनैः मकबरा उठा। यह मकबरा भी उस श्वेत वर्णवाली सम्राज्ञी के समान श्वेत तथा उसी के समान

सौंदय में अनुपम तथा अद्वितीय था। अंत में उस मकबरे को एक अतीव सुंदर किंतु महान् गुंबज का ताज पहनाया गया।

पाठको! उस सुंदर मकबरे का वर्णन पार्थिव जिह्वा नहीं कर सकती, फिर बेचारी जड़ लेखनी का क्या कहना? अनेक शताब्दियाँ बीत गईं, भारत में अनेकानेक साम्राज्यों का उत्थान और पतन हुआ। भारत की वह सुंदर कला तथा महान् समाधि के निर्माणकर्ता भी समय के इस अनंत गर्भ में न जाने कहाँ विलीन हो गए, परंतु आज भी वह मकबरा खड़ा हुआ, अपने सौंदर्य से संसार को लुभा रहा है। वह शाहजहाँ की उस महान् साधना का, अपनी प्रेमिका के प्रति अनन्य तथा अगाध प्रेम का, फल है। वह कितना सुंदर है? आँखें ही देख सकती हैं, हृदय ही उसकी सुंदरता का अनुभव कर सकता है। संसार उसकी सुंदरता को देखकर स्तब्ध है। शाहजहाँ ने अपनी मृता प्रियतमा की समाधि पर अपने प्रेम की अंजलि अर्पण की तथा भारत ने अपने महान् शिल्पकारों और चतुर कारीगरों के हाथों शुद्ध प्रेम की इस अनुपम और अद्वितीय समाधि को निर्माण करवाकर पवित्र प्रेम की वेदी पर जो अपूर्व श्रद्धांजलि अर्पित की उसका सानी इस भूतल पर खोजे नहीं मिलता।

× × × ×

बरसों के परिश्रम के बाद अंत में मुमताज का वह मकबरा पूर्ण हुआ। शाहजहाँ की वर्षों की साध पूरी हुई। एक

महान् यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। जब इस मकबरे के पूर्ण होने पर शाहजहाँ पूरे समारोह के साथ उसे देखने गया होगा, आगरे के लिये वह दिन कितना गौरवपूर्ण हुआ होगा। इतिहासकारों ने उस दिन का—भारत की ही नहीं, संसार की शिल्पकला के इतिहास के उस महान् दिवस का—वर्णन कहीं नहीं किया है। कितने सहस्र नरनारी आबालवृद्ध उस दिन उस अपूर्व मकबरे के—संसार की उस महान कृति के—दर्शनार्थ एकत्र हुए होंगे? उस दिन मकबरे को देखकर भिन्न भिन्न दर्शकों के हृदयो मे कितने विभिन्न भाव उत्पन्न हुए होंगे? किसी को इस महान् कृति की पूर्ति पर हर्ष हुआ होगा, किसी ने यह देखकर गौरव का अनुभव किया होगा कि उनके देश में एक ऐसी वस्तु का निर्माण हुआ है, जिसकी तुलना करने के लिये ससार में कदाचित् ही दूसरी कोई वस्तु मिले, कई एक उस मकबरे की छवि को देखकर मुग्ध हो गए होंगे, न जाने कितने चित्रकार उस सुंदर कृति को अंकित करने के लिये ही दौड़ पड़े होंगे, न जाने कितने कवियों के मस्तिष्कों मे क्या क्या अनोखी सूझें पैदा हुई होंगी।

परंतु सब दर्शकों में से एक दर्शक ऐसा भी था जिसके हृदय में भिन्न भिन्न विपरीत भावों का घोर युद्ध हुआ था। दो आँखें ऐसी भी थीं जो बाह्य सुंदरता को चीरती हुई, एकटक उस कब्र पर ठहरती थीं। वह दर्शक था शाहजहाँ, वे आखें थीं शाहजहाँ की आँखें। जिस समय शाहजहाँ ने ताज के उस

अद्वितीय दरवाजे पर खड़े होकर उस समाधि को देखा होगा उस समय उसके हृदय की क्या दशा हुई होगी, सो वर्णन करना अतीव कठिन है। उसके हृदय मे शाति हुई होगी कि वह अपनी प्रियतमा के प्रति किए गए अपने प्रण को पूर्ण कर सका। उसको गौरव का भी अनुभव हो रहा होगा कि उसकी प्रियतमा की कब्र—अपनी उस जीवनसगिनी की याद-गार—ऐसी बनी कि उसका सानी शायद ही मिले। किंतु उस जीवित मुमताज के स्थान पर अपनी जीवनसगिनी की शुष्क हड्डियों पर यह कब्र—वह कब्र कैसी ही सुदर क्यों न हो—पाकर शाहजहाँ के हृदय में जलती हुई चिरवियोग की अग्नि क्या शात हो गई होगी? क्या श्वेत सर्द पत्थर का वह सुदर मकबरा मुमताज की मृत्यु के कारण हुई कमी को पूर्ण कर सकता था? मकबरे को देखकर शाहजहाँ की आँखों के सम्मुख उसका सारा जीवन, जब मुमताज के साथ वह सुख-पूर्वक रहता था, सिनेमा की फिल्म के समान दिखाई दिया होगा। प्रियतमा मुमताज की स्मृति पर पुनः आँसू ढलके होंगे, पुनः सुप्त स्मृतियाँ जग उठी होगी और पुनः चोट खाए हुए उस हृदय के व पुराने घाव हरे हो गए होंगे।

पाठको! जब आज भी कई एक दर्शक उस पवित्र समाधि को देखकर दो आँसू बहाए बिना नहीं रह सकते तब आप ही स्वयं विचार कर सकते है कि शाहजहाँ की क्या दशा हुई होगी। अपने जीवन में बहुत कुछ सुख प्राप्त हो चुका था,

और रहेसहे सुख की प्राप्ति होने को थी, उस सुखपूर्ण जीवन का मध्याह्न होने ही वाला था कि उस जीवनसूर्य को ग्रहण लग गया और ऐसा लगा कि वह जीवनसूर्य अस्त होने तक ग्रसित ही रहा। ताजमहल उस ग्रसित-सूर्य से निकली हुई अद्भुत सुंदरतापूर्ण तेजोमयी लपटों का एक घनीभूत सुंदर पुंज है, उस ग्रसित सूर्य की एक अनोखी स्मृति है।

× × × ×

शताब्दियाँ बीत गईं। शाहजहाँ कई बार उस ताजमहल को देखकर रोया होगा। मरते समय भी वह उस सुंदर सुम्मन बुर्ज में शय्या पर पड़ा ताजमहल को देख रहा था। और आज भी न जाने कितने मनुष्य उस अद्वितीय समाधि के उद्यान मे बैठे घटों उसे निहारा करते हैं। न जाने कितने उस उद्यान मे बैठे प्रेमपूर्वक जीवन के नष्ट होने की उस स्मृति पर, अचिरस्थायी मानवजीवन की उस करुण कथा पर, रोते हैं। न जाने कितने यात्री दूर दूर देशों से बड़े बड़े भयंकर समुद्र पार कर उस समाधि का देखने के लिये खिंचे चले आते हैं। वे कितनी उमगों से आते हैं, और उसासे भरते हुए ही चले जाते हैं। कितने हर्ष से आते हैं, किंतु दो आँसू बहाकर ही जाते हैं। प्रकृति भी प्रति वर्ष चार मास तक इस अद्वितीय प्रेम के भग होने की करुण स्मृति पर रोती है।

मनुष्यजीवन की, मनुष्य के उस दुःखपूर्ण जीवन की—जहाँ मनुष्य की कई वासनाएँ अतृप्त रह जाती हैं, जहाँ मनुष्य

के प्रेम के बंधन बँधने भी नहीं पाते कि काल के कराल हाथों पड़कर टूट जाते हैं—मनुष्य के उस करुण जीवन की स्मृति—उसकी अतृप्त वासनाओं तथा खिलते हुए प्रेमपुष्प की वह समाधि—आज भी यमुना के तीर पर खड़ी है। शाहजहाँ का वह साम्राज्य, उसका वह तख्तताऊस, उसका वह महान् घराना, शाही जमाने का वह गौरव, आज सब कुछ विलीन हो गया—समय के कठोर झोंकों से पड़कर वे सब आज नष्ट हो गए। ताजमहल का वह वैभव, उसमें जड़े हुए वे रत्न भी न जाने कहाँ चले गए, किंतु आज भी ताजमहल अपनी सुंदरता से समय को लुभाकर उसे भुलावा दे रहा है और यों मानवजीवन की उस करुण कथा को चिरस्थायी बनाए हुए है। वैभव से विहीन ताज का वह विधुर स्वरूप उसे अधिक सोहता है।

आज भी उन सफेद पत्थरों से आवाज आती है—'मैं भूला नहीं हूँ"। आज भी उन पत्थरों से न जाने किस मार्ग से होती हुई पानी की एक बूँद प्रतिवर्ष उस सम्राज्ञी की कब्र पर टपक पड़ती है, वे कठोर पत्थर भी प्रतिवर्ष उस सुंदर सम्राज्ञी की मृत्यु को याद कर, मनुष्य की इस करुण कथा को देख, पिघल जाते हैं और उन पत्थरों में से एक आँसू ढलक पड़ता है। आज भी यमुना नदी की धारा समाधि को चूमती हुई उस भग्न मानवजीवन की करुण कथा अपने प्रेमी सागर को सुनाने के लिये दौड़ पड़ती है। आज भी उस

भग्न हृदय की कथा याद कर कभी कभी यमुना नदी का हृदय-प्रदेश उमड पड़ता है और उसके हृदय में भी आँसुओं की बाढ़ आ जाती है।

उन श्वेत पत्थरों से आवाज आती है—"आज भी मुझे उसकी स्मृति है।" आज भी उस खिलते हुए प्रेमपुष्प का सौरभ—उस प्रेमपुष्प का जो अकाल में ही डंठल से टूट पड़ा—उन पत्थरों मे रम रहा है। वह टूटा हुआ पुष्प सूख गया, उसका भौतिक स्वरूप इस लोक मे रह गया, परंतु उस सुंदर पुष्प की आत्मा विलीन हो गई, अनंत में अंतर्हित हो गई। अपने अनंत के पथ पर अग्रसर होती हुई वह आत्मा उस स्खलित पुष्प को छोड़कर चली गई, केवल पत्थर की उस सुंदर किंतु त्यक्त समाधि में उसकी स्मृति विद्यमान है। यों शाहजहाँ ने उस निराकार मृत्यु को अक्षय सौंदर्यपूर्ण स्वरूप प्रदान किया। मनुष्य के अचिरस्थायी प्रेम को, प्रेमाग्नि की उस धधकती हुई अग्नि को चिरस्थायी बनाया।

———

समाज और कर्तव्यपालन

[बाबू गुलाबराय]

समाज पर मनुष्य की निर्भरता

संसार में यदि एक ही मनुष्य होता तो शरीररक्षा के अतिरिक्त उसका कुछ भी कर्त्तव्य न था। शायद शरीररक्षा भी कर्त्तव्य की कोटि से निकल जाती। जब जीवन का कुछ मूल्य ही न रहा, तब जीवन धारण करना किस प्रकार कर्त्तव्य कहा जा सकता है? कट्टर से कट्टर स्वार्थवादी भी समाज की स्थिति चाहते हैं। माना, कि हम अकेले रहकर सारे दृश्यसंसार के राजा बन जावें (Monarch of all I survey) किंतु जब तक हमारा कोई राजत्व स्वीकार करने को न हो, तब तक हम राजा ही कैसे? जब हम दूसरों को किसी वस्तु के भोग करने से न रोक सकें, तब हमारा अधिकार ही क्या अर्थ रखता है? उदारचित्त मनुष्य भी निर्जन स्थान में कृपण-वत् धन को एकत्र किए बैठा रहेगा। हमारा ऐक्योन्मुख आदर्श भी समाज की अपेक्षा रखता है। दो का ही एकीकरण हो सकता है। भेद में ही अभेद देखा जाता है। अकेला मनुष्य तो एक है ही। उसके लिये एकता की ओर जाना कर्त्तव्य न रहेगा। 'सर्वभूतहिते रताः' होने के लिये सर्वभूत-

स्थिति आवश्यक है। हमारे आदर्श की पूर्त्ति समाज में ही रहकर हो सकती है। समष्टि का हितसाधन कर व्यष्टि में समष्टि का भाव उत्पन्न करना समष्टि से बाहर होकर नहीं हो सकता। हमारी पूर्ण आत्मप्रतीति, अपनी पूर्ण आत्मा के संबंध में, जिसका व्यंजन सारे संसार में हो रहा है, समाज मे रहकर हो सकती है। समाज से पृथक् रहकर हम अपने आदर्श की किस प्रकार पूर्त्ति कर सकते हैं? समाज मे हमको जो स्थान मिला है, उसके उचित कर्त्तव्यों का पालन करने से हम अपने आदर्श की पूर्त्ति कर सकते हैं।

समाज में व्यक्ति की स्थिति और उत्तरदायित्व

समाज मे प्रत्येक मनुष्य अपनी विशेष स्थिति रखता है। जिस प्रकार किसी मशीन में हर एक पुर्जा मशीन के चलने में योग देता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को स्वस्थानोचित क्रिया करके समाज के निर्विघ्न संचालन में योग देना आवश्यक है। जैसे एक पुर्जे के खराब होने से सारी मशीन खराब होती है, वैसे ही एक व्यक्ति के धर्मच्युत होने से सारा समाज भ्रष्ट हो जाता है। धर्मच्युत होने से यदि केवल व्यक्ति ही की हानि होती, तो शायद धर्म का पालन न करना इतना दोषपूर्ण न होता। किंतु जब एक मछली सारे तालाब को गंदा कर देती है, तब व्यक्ति का धर्मपरायण रहना परमावश्यक हो जाता है और व्यक्ति का उत्तरदायित्व भी बढ़ जाता है। इसी

लिये श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है कि, 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।' यदि अर्जुन उस समय क्षत्रिय-धर्म को छोड़कर सन्यास ग्रहण कर लेता तो वह समाज में अधर्म फैलानेवाला बन जाता। अर्जुन को समझाते हुए भगवान् ने कहा है—

* स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥
× × × ×
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥

वर्णाश्रमधर्म और कर्त्तव्य का सापेक्षत्व

हमारे देश से वर्णाश्रमधर्म द्वारा प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य पहले से ही निश्चित कर दिया गया है। यह बात कहाँ तक निर्विवाद है, इसके लिये हम कुछ न कहकर इतना अवश्य कहेंगे कि वर्णाश्रमधर्म कर्त्तव्यशास्त्र की बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता है। प्रत्येक वर्ण और आश्रम के

---

* स्वधर्म को देखकर तुमको थर्राने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि क्षत्रिय के लिये धार्मिक युद्ध से श्रेष्ठतर क्या हो सकता है।

× × × ×

यदि तुम धार्मिक युद्ध से मुँह मोड़ोगे तो धर्म और सुयश से हाथ धोकर पाप के भागी होगे।

भिन्न भिन्न धर्म होने के कारण सब मनुष्यों का एक सा कर्त्तव्य नहीं रहता। इसका यह अर्थ नहीं कि कर्त्तव्य का आदर्श बदल जाता है, किंतु समाज मे आदर्श की पूर्त्ति के भिन्न भिन्न साधन होना आवश्यक है। समाज की अनेक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के अर्थ भिन्न भिन्न प्रकार और रुचि के मनुष्य चाहिएँ। इस कारण उनके कर्त्तव्यों में अवश्य भेद चाहिए। सबका एक सा कर्त्तव्य नहीं हो सकता। जा ब्राह्मण के लिये कर्त्तव्य है, वह क्षत्रिय के लिये अकर्त्तव्य है। सब एक लाठी से नहीं हाँके जा सकते। समाज में यदि सभी लोग मननशील बन जायँ तो उसका चलना कठिन हो जाय। वर्णविभाग करके हिंदूधर्म ने कर्त्तव्य के सापेक्षत्व (Relhativity of Ethics) को भली भाँति दिखलाया है। आश्रमों के विभाग कर देने से लोगों के कर्त्तव्य में बड़ी सुगमता पड़ गई है। विद्योपार्जन के साथ ही साथ धर्मोपार्जन नहीं हो सकता और धर्मोपार्जन के साथ मौन व्रत धारण करके वन में बैठना नहीं हो सकता। वर्णाश्रमधर्म के यथोचित परिपालन से समाज की अच्छी उन्नति हो सकती है। लोकसंग्रह का भी अर्थ स्थानोचित कर्त्तव्यों का पालन तथा समाज के धर्म में स्थिति रखना है। समाज में साम्य स्थापित करने के अर्थ किसी काम को कर्त्तव्यदृष्टि से करना सच्चा निष्काम कर्म है और इसी में सच्ची आत्मप्रतीति भी होती है, क्योंकि समाज आत्मा का ही विकास है। अपना स्वार्थ छोड़ सामा-

जिक हित के अर्थ कर्म करना 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' का ही अर्थ रखता है, क्योंकि मनुष्यसमाज ईश्वर की सत्ता का श्रेष्ठ व्यजक है।

आत्मा की सत्ता में विश्वास रखे विना समाज की स्थिति चाहना वृथा है।

समाज में साम्य किस लिये स्थापित करना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर देना उन लोगों के लिये, जो समाज में अपनी आत्मा का प्रकाश देखते हैं, कुछ कठिन नहीं। किंतु जो लोग आत्मसत्ता में विश्वास नहीं करते, उनके लिये सामाजिक स्थिति या साम्य एक प्रकार का पाखड ही है। समाज की स्थिति की चेष्टा किस लिये की जाय? प्रकृतिवादियों की ओर से यह उत्तर मिलेगा, कि समाज की ही स्थिति में व्यक्ति का पूर्ण लाभ है। ठीक है, मनुष्य की चेतना को मस्तिष्क के परमाणुओं की क्रियाओं का परिणाम माननेवाले लोगों के मत में व्यक्ति की स्थिति का भी कोई लाभ नहीं दिखाई पड़ता। मनुष्य इस ससार की आकस्मिक क्रियाओं का फल है। इस प्रकृति के विशेप संघात (जिसे कि मनुष्य कहते हैं) के जीवित रहने से क्या लाभ? यदि यह कहा जाय कि इस विशेप सघात का मूल्य बहुत बढ़ गया है तो ठीक है। किंतु वह मूल्य किसके लिये है और उसका जाननेवाला कौन है, इसका उत्तर नहीं। यह स्पष्ट है, कि आस्तिकता के दृढ आधार पर ही कर्त्तव्यशास्त्र का भव्य भवन बनाया जा सकता है। जब तक

भिन्न भिन्न धर्म होने के कारण सब मनुष्यों का एक सा कर्त्तव्य नहीं रहता। इसका यह अर्थ नहीं कि कर्त्तव्य का आदर्श बदल जाता है, किंतु समाज में आदर्श की पूर्त्ति के भिन्न भिन्न साधन होना आवश्यक है। समाज की अनेक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के अर्थ भिन्न भिन्न प्रकार और रुचि के मनुष्य चाहिएँ। इस कारण उनके कर्त्तव्यों में अवश्य भेद चाहिए। सबका एक सा कर्त्तव्य नहीं हो सकता। जा ब्राह्मण के लिये कर्त्तव्य है, वह क्षत्रिय के लिये अकर्त्तव्य है। सब एक लाठी से नहीं हाँके जा सकते। समाज में यदि सभी लोग मननशील बन जायँ तो उसका चलना कठिन हो जाय। वर्णविभाग करके हिंदूधर्म ने कर्त्तव्य के सापेक्षत्व (Reliativity of Ethics) को भली भाँति दिखलाया है। आश्रमों के विभाग कर देने से लोगों के कर्त्तव्य में बड़ी सुगमता पड़ गई है। विद्योपार्जन के साथ ही साथ धर्मोपार्जन नहीं हो सकता और धर्मोपार्जन के साथ मौन व्रत धारण करके वन मे बैठना नहीं हो सकता। वर्णाश्रमधर्म के यथोचित परिपालन से समाज की अच्छी उन्नति हो सकती है। लोकसग्रह का भी अर्थ स्थानोचित कर्त्तव्यों का पालन तथा समाज के धर्म में स्थिति रखना है। समाज में साम्य स्थापित करने के अर्थ किसी काम को कर्त्तव्यदृष्टि से करना सच्चा निष्काम कर्म है और इसी में सच्ची आत्मप्रतीति भी होती है, क्योंकि समाज आत्मा का ही विकास है। अपना स्वार्थ छोड़ सामा-

जिक हित के अर्थ कर्म करना 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' का ही अर्थ रखता है, क्योंकि मनुष्यसमाज ईश्वर की सत्ता का श्रेष्ठ व्यजक है।

आत्मा की सत्ता में विश्वास रखे बिना समाज की स्थिति चाहना वृथा है।

समाज मे साम्य किस लिये स्थापित करना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर देना उन लोगों के लिये, जो समाज में अपनी आत्मा का प्रकाश देखते हैं, कुछ कठिन नहीं। किंतु जो लोग आत्मसत्ता में विश्वास नहीं करते, उनके लिये सामाजिक स्थिति या साम्य एक प्रकार का पाखड ही है। समाज की स्थिति की चेष्टा किस लिये की जाय? प्रकृतिवादियों की ओर से यह उत्तर मिलेगा, कि समाज की ही स्थिति में व्यक्ति का पूर्ण लाभ है। ठीक है, मनुष्य की चेतना को मस्तिष्क के परमाणुओं की क्रियाओं का परिणाम माननेवाले लोगों के मत में व्यक्ति की स्थिति का भी कोई लाभ नहीं दिखाई पड़ता। मनुष्य इस ससार की आकस्मिक क्रियाओं का फल है। इस प्रकृति के विशेष सघात (जिसे कि मनुष्य कहते हैं) के जीवित रहने से क्या लाभ? यदि यह कहा जाय कि इस विशेष सघात का मूल्य बहुत बढ़ गया है तो ठीक है। किंतु वह मूल्य किसके लिये है और उसका जाननेवाला कौन है, इसका उत्तर नहीं। यह स्पष्ट है, कि आस्तिकता के दृढ़ आधार पर ही कर्त्तव्यशास्त्र का भव्य भवन बनाया जा सकता है। जब तक

हम आत्मभाव (Personality) के विशेष मूल्य को न मानेंगे, तब तक हम समाज मे मूल्यों के समझनेवाले को मानकर विज्ञान की सकुचित दृष्टि को विस्तृत न कर सकेंगे। जब तक हम सारे समाज को एक ही ज्ञानस्वरूप सत्ता (आत्मा) का विकास न समझेंगे, तब तक 'सर्वभूतहिते रताः', समाज में साम्य स्थापित करना', 'समाज की स्थिति बनाए रखना', 'जीवन की मात्रा को बढ़ाना' ये सब वाक्य निरर्थक ही रहेंगे।

हमारे आदर्श और सामाजिक संस्थाएँ

सामाजिक विकास और उसकी वर्तमान स्थिति भी समाज के आध्यात्मिक आधार होने के साक्षी हैं। समाज में इतनी खराबी होने पर भी अपने कर्त्तव्यपालन की स्वतंत्रता है। मानसिक आदर्श के अनुकूल ही हमारा सामाजिक संस्थान भी बनता जा रहा है और हमारे सामाजिक संस्थान के अनुसार हमारे कर्त्तव्यसबधी विचार भी दृढ होते जाते हैं। दोनों ही एक दूसरे के आश्रित हैं। हमारे देश के अविभक्त कुटुंब, वर्णव्यवस्था, आश्रमधर्म, पाठशालाएँ, उत्सव, रीति-व्यवहार आदि सभी उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित एकात्मवाद की अनुकूलता दिखा रहे हैं। हमारे यहाँ के प्रतिभाशाली तत्त्ववेत्ताओं ने स्वतंत्र लेखक होने का गौरव अस्वीकार कर अपने को टीकाकारों अथवा भाष्यकारों की नीची कोटि में रखकर ही अपने जीवन को सफल समझा है। गृहस्थाश्रम

के धर्म ऐसे रखे गए हैं, जिनमे ऐक्यभाव स्वतः ही उत्पन्न होता रहे। यह आश्रम बड़ा भारी कर्त्तव्यस्थल है। इसी लिये इसकी महिमा भी बहुत है। मनु महाराज ने कहा है--

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥ ३।७७
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥ ३।७८
ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानतः१॥ ३।८०

और स्थानों मे भी गृहस्थाश्रम की भूरि भूरि प्रशंसा की गई है—

न्यायार्जितधनस्तत्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
शास्त्रवित्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते॥२

१—अर्थ-जिस प्रकार सब जीव जतु वायु का आश्रय लेकर जीवन-निर्बाह करते हैं, उसी प्रकार इतर सब आश्रम गृहस्थाश्रम के ही सहारे बसते है। अन्य तीन आश्रमवाले लोग गृहस्थ लोगों से ही अन्न और ज्ञान प्राप्त करते है, इसलिये गृहस्थ आश्रम और आश्रमों से बड़ा है। ऋषि पितर, देव, जीवधारी और अतिथि सभी गृहस्थाश्रम का सहारा लेते हैं। इस गृहस्थाश्रमवाले को इनके प्रति अपना धर्म जानकर आचरण करना चाहिए।

२—न्यायपूर्वक धन कमानेवाला, आत्मज्ञान मे निष्ठा रखनेवाला, अतिथिसेवा करनेवाला, शास्त्र को जाननेवाला और निरतर सत्य बोलनेवाला गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है।

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता न दुर्भाषिणी,
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषिति रतिश्चाज्ञापराः सेवकाः।
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे,
साधोः संगमुपासते हि सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः ॥*

यदि गृहस्थाश्रम में धन का उपार्जन और दान कर्त्तव्य माना गया है, तो गृहस्थों का दान स्वीकार करने को और आश्रम भी बना दिए गये हैं। यदि संन्यासियों को धर्मोपदेश देने का भार दिया गया है, तो उनके उपदेश से लाभ उठाने के लिये लोग वर्तमान हैं। यदि संसार की स्थिति बनाए रखना और प्रजोत्पादन करके ऋषिऋण चुकाना धर्म माना गया है, तो उसकी पूर्त्ति के लिये विवाह की संस्था वर्तमान है। यदि देना धर्म है तो दान के लेनेवाले भी विद्यमान हैं। यदि समाज का संगठन श्रेय माना गया है, तो उसके लिए राज्य और साम्राज्य वर्तमान हैं। ये सब बातें यह बतलाती हैं कि हमारी सामाजिक संस्थाएँ हमारे आदर्शों के अनुकूल ही बनी हैं और इनके द्वारा हमारे आदर्शों की भली भाँति पूर्ति होना संभव है।

---

* उस गृहस्थाश्रम को धन्य है, जहाँ आनंददायक गृह है, जहाँ बुद्धिमान् पुत्र हैं, जहाँ स्त्री कटुभाषिणी नहीं है; जहाँ अच्छे मित्र हैं, खूब धन है, जहाँ अपनी स्त्री के प्रति प्रेम है, जहाँ नौकर आज्ञाकारी हैं, जहाँ अतिथिसत्कार होता है, जहाँ ईश्वर का पूजन नित्य होता है, मिठाई आदि भोजन रखे रहते हैं और जहाँ निरंतर ही सज्जनों का समागम होता रहता है।

व्यक्तियों द्वारा यथोचित लाभ न उठाए जाने के कारण बहुत सी सस्थाएँ बिगड़ भी जाती हैं। हम यह मानते हैं कि किसी देश की संस्थाओं का प्रभाव सब मनुष्यों पर एक सा नहीं पड़ता, क्योंकि देखा गया है कि जहाँ पर बहुत से विवाह करना मना नहीं है, वहाँ पर भी बहुत से लोग एक पत्नीव्रत को दृढ़त. पाल रहे हैं। और जहाँ पर कि समाज में एक स्त्री से अधिक रखने की आज्ञा नहीं, वहाँ पर भी बहुत से लोग इस रिवाज से यथोचित लाभ नहीं उठाते। तथापि इसमें कुछ सदेह नहीं, कि सामाजिक सँस्थाएँ हमें कर्त्तव्यपरायण बनाने में बड़ी सहायता देती है और हमारे आदर्शों के लिये भौतिक ढाँचे की भाँति काम करती हैं।

सामाजिक संस्थाएँ और धार्मिक उन्नति

जिस प्रकार किसी कार्य को करते करते व्यक्ति का स्वभाव बन जाता है, उसी प्रकार सामाजिक सँस्थाएँ समाज का स्वभाव हैं; और जिस तरह मनुष्य स्वभाव से जाना जाता है, उसी तरह समाज अपनी सस्थाओं द्वारा जाना जाता है। यूनान देशीय आदर्श वहाँ की सस्थाओं में वर्तमान थे। हमारे देश के वर्णाश्रम-धर्म इस बात को क्या ही विद्वत्ता से प्रमाणित कर रहे है कि सामाजिक सँस्थाएँ मानवजीवन को कहाँ तक बुराभला बना सकती हैं। कभी ऐसा भी देखा गया है कि सामाजिक सस्थाएँ समाज के आदर्श के अनुकूल नहीं रहतीं। तभी धर्म का ह्रास

होने लगता है, धर्मोद्धार की आवश्यकता पड़ने लगती है, आवश्यकता के अनुकूल उनका आविर्भाव भी होने लगता है। श्रीमद्भागवद्गीता में भी कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

समाज के आदर्श को स्पष्ट करना और उससे संस्थाओं की संगति करना ही धर्मोद्धारक का मुख्य कर्त्तव्य होता है। यह कार्य धर्मोद्धारकों के ही बाँटे में नहीं पड़ा, वरन् प्रत्येक छोटे से छोटा मनुष्य भी पूरा धर्मोद्धारक है। इसलिये उसका कर्त्तव्य है कि समाज के आदर्शों की, उसके धर्मों की और संस्थाओं की एकता करके, अपने आदर्श को समाज के आदर्श में मिलाकर और अन्यान्य आदर्शों तथा संस्थाओं के अनुकूल अपने कर्मों को बनाकर, समाज में अपनी पूर्ण आत्मप्रतीति करे।

समाज के व्रत का विस्तार

इस प्रकरण की समाप्ति के पूर्व समाज की व्याप्ति पर विचार कर लेना आवश्यक है। यदि समाज का संकुचित अर्थ माना जाय, तो उसकी व्याप्ति किसी विशेष संप्रदाय के लोगों से बाहर नहीं जाती, किंतु उसके विस्तार का अंत नहीं हो सकता। घर से लेकर मानवजाति तक समाज का घेरा है। क्या हम इस घेरे को और नहीं बढ़ा सकते? क्या

पशुपक्षी और कीटपतंगों को भी हम अपने समाज में सम्मिलित कर सकते हैं ? इसके उत्तर में कहा जायगा कि जिन जीवों का इतना विकास हुआ है कि वे हमारी गोष्ठी में सम्मिलित किए जायँ, वे उसमें सम्मिलित किए गए हैं। मनुष्यों और जानवरों का क्या संग ? समाज के व्यक्तियों में एक दूसरे को सहायता देने का पारस्परिक भाव रहता है। मनुष्यों और पशुओं में पारस्परिक संबंध नहीं हो सकता, इसलिये उन्हें मनुष्यसमाज में स्थान देना असंभव है। इस विषय में एक और बाधा उपस्थित हो सकती है, कि समाज में व्यक्तियों का संबंध होता है और बहुत से जानवरों में व्यक्तित्व स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता। इन तीनों बाधाओं पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है। विकास की श्रेणी में पशुपक्षी अवश्य नीचा स्थान पाते हैं, किंतु क्या यह बात उनको हमारी दया, अनुकंपा और सहायता से वंचित रखने के लिये ठीक है ? यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो मनुष्य समाज में विकास की कई श्रेणियाँ हैं। किंतु आजकल की सभ्यता में सबका जीवनमूल्य बराबर समझा जाता है। सभ्य मनुष्य के मारने पर भी फाँसी होती है और असभ्य जंगली मनुष्य, पागल या बालक के मारने पर भी वही दंड दिया जाता है। क्या यह जीवनसंमान (Respect for life) मनुष्यसमाज में ही संकुचित रखना चाहिए ? क्या अपने विचार में जीवन की शृंखला पीछे नहीं हटाई जा सकती ? क्या हम उसी जीवन

शृंखला की एक कड़ी नहीं, जिसके कि पशुपक्षी हैं? क्या जानवरों को जीवित रहने का वही नैतिक अधिकार नहीं जो हम लोगों को है? क्या उनका मूल्य उनके समाज में उतना ही नहीं जितना कि हमारा मूल्य हमारे समाज में है? दांपत्य प्रेम तो कहीं कहीं जानवरों में मनुष्यों के ही बराबर देखा गया है। क्या पशु, पक्षी, कीट, पतंग इस विश्व के कार्य विभाग में स्थान नहीं पाते ? क्या विकासवाद के मत से जीव-धारीमात्र एक कुटुंब के नहीं हैं? पशु, पक्षी, कीट, पतंग संसार के कार्यविभाग में अपना अपना काम कर रहे हैं। वृक्षों के फलवान् होने में पक्षी, कीट, पतंग कहाँ तक साहाय्य देते हैं, यह बात किसी विज्ञ पुरुष से छिपी नहीं है। हम जिन श्रेणियों द्वारा विकास को प्राप्त हुए, अब ऊँचे बनकर उनका तिरस्कार करना हमारी उच्चता को शोभा नहीं देता। दूसरी बाधा पर विचार करते हुए हम केवल इतना ही कहेंगे, कि बदले का व्यवहार कानून की दृष्टि से चाहे आवश्यक हो, किंतु धर्म और कर्त्तव्य की दृष्टि से यह बाहर है। कर्त्तव्यपालन द्वारा हमको सद्गुणवृद्धि तथा आत्मतुष्टि सरीखे मधुरतम फल मिलते हैं। यदि बदले की रीति से देखा जाय, तो भी मनुष्य अपना सिर ऊँचा नहीं कर सकता। पशुओं से मनुष्यजाति का जो उपकार हुआ है, वह हिंसक पशुओं द्वारा पहुँचाई हुई हानि से अधिक है। खैर, इस बात को जाने दीजिए। मनुष्यसमाज ने हिंसक पशुओं से बदला लेने में कुछ रक्ष

नहीं छोड़ा। केवल इतना ही नहीं, वरन् और पशु भी, जो मनुष्यजाति की हानि करते हैं, मनुष्य द्वारा उचित दंड पाए बिना नहीं रहते। फिर मनुष्यों को क्या अधिकार है कि वे निरपराध पशुओं को सतावें? वे तो बदला ले नहीं सकते। पारस्परिक उपकार का प्रश्न भी एक प्रकार से नहीं उठता। पशुसंसार मनुष्य से उपकार नहीं चाहता, वह तो अभयदान चाहता है। वह सहायता नहीं चाहता; इतना ही चाहता है, कि मनुष्य अपनी हननेच्छा का थोड़ा वश में रखे। मनुष्य की उनके प्रति इतनी ही सेवा पर्याप्त है, कि वह उन्हे जीवित रहने दे। वे ऐसी सेवा चाहते है, जैसी कि निषाद ने श्रीरामचंद्र को अपनी सेवा बतलाई थी कि 'यह हमार अति बड़ि सेवकाई। लेहिं न भूषण बसन चुराई'। तीसरी कठिनाई जो व्यक्तिता के विषय में है, पहली कठिनाई से मिलती-जुलती है। व्यक्तिता की भी श्रेणी है। माना कि पशुपक्षियों की व्यक्तिता मनुष्य की भाँति स्पष्ट नहीं है; और न उनमे मनुष्य का सा आत्मभाव (Personality) ही वर्तमान है; किंतु उनमें व्यक्तिता और आत्मभाव किसी न किसी अंश से है अवश्य। उनकी व्यक्तिता उस पौधे की भाँति है, जो थोड़ा ही बढ़कर रह गया हो। जानवरों में यदि मनुष्य की सी व्यक्तिता और आत्मभाव वर्तमान होता तो, उस अवस्था में, वे मनुष्य की बराबरी का ही दावा कर सकते थे। किंतु इस अवस्था से क्या वे जीवनदान की भी आशा नहीं रख सकते?

वे मनुष्य की बराबरी नहीं चाहते, वे मनुष्य की राजनैतिक सभाओं के सदस्य नहीं होना चाहते, जिसके लिये उनकी मानसिक योग्यता पर विचार किया जाय। वे तो जीवधारी हैं, इसी से केवल जीवित रहने का अधिकार चाहते हैं। इन सब बातों पर विचार करके हम अपने समाज की सीमा को प्राणिमात्र तक बढ़ा दें, तो हम अपनी सच्ची आत्मप्रतीति के सच्चे सहायक ही बनेंगे। समाज को इस विस्तृन दृष्टि से देखने के लिये हमको अपने आत्मसबंधी विचारों को भी विस्तार देना होगा। जैसे जैसे हमारे आत्मसबंधी विचार विस्तृत होते जाते हैं, वैसे ही वैसे हमारी आत्मप्रतीति का क्षेत्र बढता जाता है। जो लोग अपनी व्यक्तिता में ही अपनी आत्मा को सकुचित कर देते है, उनकी आत्मप्रतीति स्वार्थसाधन में ही होती है। किंतु हम उसे सच्ची आत्मप्रतीति नहीं कह सकते। सच्ची आत्मप्रतीति तभी हो सकती है, जब हम अपनी आत्मा को पूरा विस्तार देकर समष्टि की आत्मा से मिला दें और समष्टि के हित को अपना हित समझें। यह बात कठिन नहीं है। बहुत से लोग आत्मकल्याण को देश के हितसाधन में देखते हैं, और बहुत से इससे भी आगे बढकर अपने हित को साम्राज्य के हित मे मिला देते हैं। कुछ ऐसे भी होते है जो मनुष्यमात्र का हित और अपना हित एक कर देते हैं। इससे भी एक ऊँची श्रेणी प्राणिमात्र से अपनी एकता करनेवालों की है। हिंदू धर्मग्रंथों ने अधिकतर इसी

विस्तृत भाव का उपदेश दिया है। स्मृतिग्रंथों मे अतिथि-सत्कार के साथ जानवरों को भी भाग देना गृहस्थों का धर्म बतलाया है 'सर्वभूतहिते रता:', 'जीवेषु दया कुर्वन्ति साधव:', 'निर्वैर: सर्वभूतेषु', 'आत्मवत् सर्वभूतेषु य: पश्यति स पंडित:' इत्यादि वाक्यों द्वारा कर्त्तव्य को मनुष्यसमाज से बढ़ाकर प्राणिमात्र के प्रति कर दिया है। यही पूर्ण आत्मसंभावना या आत्मप्रतीति है।

समाज की व्याप्ति बढ़ाने में संभावित आपत्तियाँ और उनका निराकरण

कुछ लोग इस इस विस्तृत दृष्टि पर यह शंका अवश्य उठायेंगे कि जो लोग अपने दृष्टिकोण को इतना विस्तृत कर देंगे, उनको कोई भी पदार्थ स्पष्टत: न दिखाई पड़ेगा! जो लोग सबके हित मे तत्पर रहते हैं, वे किसी के भी हितसाधन मे सफल नहीं होते। कभी कभी ऐसा भी होता है, कि निकटवर्तियों के हित में और मनुष्यमात्र के हित मे विरोध पड़ जाता है; और जिनके प्रति हमारा मुख्य कर्त्तव्य है, वे हमारी उदारता से वञ्चित रह जाते हैं। इसलिये प्राणिमात्र के हितसाधन की इच्छा न करते हुए समाज के एक परिमित भाग का ही हितसाधन श्रेय है। यह शंका क्रियात्मक है। इस शंका से हमारे सिद्धांत के न्याय्य होने मे बाधा नहीं पड़ती। अब इस पर कर्त्तव्यबुद्धि से भी विचार कर लेना चाहिए। इस

शंका के उठानेवाले स्वार्थ पर पूर्णतया विजय नहीं प्राप्त कर सकते। व्यवहार में स्वार्थ को जीतना कठिन है, किंतु यह बात किसी सिद्धात की सत्यता में बाधा नहीं डाल सकती। इस शंका का मूल इस विचार में है कि उपकारी मनुष्य के निकटवर्त्ती लोग उसके उपकार से लाभ उठाने के अधिकारी हैं। अँगरेजी में एक लोकोक्ति है कि 'Charity begins at home' अर्थात् दान का आरंभ घर से ही होना चाहिए। किंतु इसके ऊपर किसी ने यह भी कहा है 'But it should not end there' अर्थात् उसका अंत घर में ही न हो जाना चाहिए। हमारे कहने का यह मतलब नहीं कि घर के लोग भूखों मरें और बाहरवालों को धन लुटाया जाय। किंतु इतना अवश्य मानना पड़ेगा, कि स्वार्थत्याग, आत्मसमर्पण और उदारता के गुण मनुष्यमात्र के लिये उदारता दिखलाने में बढ़ते हैं, वे निकटवर्ती लोगों के साथ दिखाने में नहीं बढ़ते।

निकटवर्ती लोगों के साथ उपकार करने से एक प्रकार का उदात्त स्वार्थ लगा रहता है। बाइबिल में* ईसा मसीह ने डाकुओं द्वारा आहत एक मनुष्य का आख्यान कहते हुए बतलाया है कि 'तेरा पड़ोसी वही है, जिसके साथ तू उपकार कर सके।' जब हम अपना स्वार्थ छोड़कर "वसुधैव कुटुंबकम्" के सिद्धात को मानने लगेंगे, तब समीप और दूर के लोग बराबर हो जायँगे। यह अवश्य मानना पड़ेगा, कि

* लूक रचित सुसमाचार अध्याय १०।३०।-३७।

कोई एक मनुष्य सारे विश्व का उपकार नहीं कर सकता। वह अपने निकटवर्ती लोगों के साथ ही उपकार करेगा। किंतु उपकार करते समय, जिस बुद्धि से कार्य किया जाय, उसमे ही स्वार्थ और परार्थ हो जाता है। जब हम किसी का उपकार स्वार्थबुद्धि से करते है, तब हम स्वार्थी हैं। किंतु जब स्वार्थत्याग कर किसी का उपकार करते हैं, तब हम विश्व का ही हितसाधन करते हैं। जिस मनुष्य का हम उपकार करते हैं, वह विश्व का एक अंग है और अंग अंगी से पृथक् नहीं। जो हमारी किसी उंगली पर मरहम लगावे, तो वह हमारे सारे शरीर की ही सेवा करता है। हम उपकार चाहे जिसके साथ करें, किंतु हमारी बुद्धि निःस्वार्थ होनी चाहिए। यदि हम निकटवर्ती लोगों के साथ उपकार कर रहे हैं, और कोई ऐसा अवसर आ जाय, कि दूर का मनुष्य हमारी सहायता की आवश्यकता रखता हो, और उसको सहायता पहुंचाना संभव भी हो और हम उसकी सहायता न करें, केवल इस विचार से कि उस मनुष्य से हमारा कोई सबंध नहीं, तो हमको विश्व-हित के विरुद्ध जाना होगा। यदि यह कहा जाय कि देश-हित और मानवजाति के हित मे कभी कभी विरोध पड़ता है, अथवा कुटुंब के हित और समाज के हित मे विरोध पड़ता है, तो क्या ऐसी अवस्था मे विस्तृत दृष्टि ही श्रेय है? देखा गया है कि बहुत से बड़े बड़े आदमियों ने देशहित के लिये कुटुंब के हित को तिलाजलि दी है। राजकीय आईन की

मान मर्यादा रखने के लिये अपने पुत्र या निकटवर्ती कुटुम्बियों को प्राणदंड तक दिया गया है। अपनी रक्षा कुटुंब की रक्षा से है, कुटुंब की रक्षा देश की रक्षा से है, देश की रक्षा मानव-जाति की रक्षा से है और मानवजाति की रक्षा विश्व की स्थिति में है। कभी कभी देश और मानवजाति के हित में जो विरोध पड़ा करता है, उसका कारण यह है कि मानवसमाज में अभी भिन्न भिन्न आदर्श वर्तमान हैं। जैसे जैसे आदर्शों की एकता होती जायगी और जैसे जैसे मनुष्यसमाज एक प्रेम-सूत्र में बँधता जायगा, वैसे ही वैसे देशभक्ति और विश्वप्रेम में विरोध घटता जायगा। मानवजाति का एक बड़ा साम्राज्य बन जायगा, जिसमें पशुपक्षी आदि भी अपना उचित स्थान पावेंगे। एक नियम मे बद्ध होने से विरोध घट जाता है। मनुष्यसमाज इस आदर्श की ओर जा रहा है। इस आदर्श की पूर्ति में योग देना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। एक नियम और आदर्श में बद्ध समाज में रहकर ही सच्ची आत्मप्रतीति की संभावना है। जो इस संभावना को वास्तविकता में परिणत करने की चेष्टा करते हैं, वे उस चेष्टा में अपनी आत्म-प्रतीति कर रहे हैं। जब समाज मे रहकर और समाज के हित से अपना हित मिला देने मे ही आत्मप्रतीति की आशा है, तब समाज मे प्रतिष्ठित धर्मों को अपने आदर्श में घटाना आवश्यक है।

चंद्रोदय

[पंडित बालकृष्ण भट्ट]

अँधेरा पाख बीता, उजेला पाख आया। पश्चिम की ओर सूर्य डूबा और वक्राकार हँसिया की तरह उसी दिशा में चद्रमा दिखलाई पड़ा। मानों कर्कशा के समान पश्चिम दिशा सूर्य के प्रचड ताप से दुखी हो क्रोध मे आ इसी हँसिया को लेकर दौड़ रही है और सूर्य भयभीत हो पाताल में छिपने के लिये जा रहा है। अब तो पश्चिम ओर आकाश सर्वत्र रक्तमय हो गया। क्या सचमुच ही इस कर्कशा ने सूर्य का काम तमाम किया जिससे रक्त यह निकला, अथवा सूर्य भी क्रूर हुआ जिससे उसका चेहरा तमतमा गया और उसी की यह रक्त आभा है? इस्लाम धर्म के माननेवाले नए चद्र की बहुत बड़ी इज्जत करते हैं; सो क्यों? मालूम होता है इसी लिये कि दिन दिन क्षीण होकर नाश को प्राप्त होता हुआ चद्रमा मानों सबक देता है कि रमजान मे अपने शरीर को इतना सुखाओ कि वह नष्ट हो जाय, तब देखो कि उत्तरोत्तर कैसी वृद्धि होती है। अथवा यह कालरूपी श्रोत्रीय ब्राह्मण के नित्य जपने का ओंकार महामंत्र है; या अधकार महाराज के हटाने का अकुश है; या विरहिणियों के प्राण कतरने को कैंची है; अथवा शृगार रस से पूर्ण पिटारे के खोलने की कुजी है; या तारामौक्तिकों से

गुँथे हार के बीच का यह सुमेर है, अथवा जंगम जगत् मात्र को डसने-वाले अनंगभुजग के फन पर का चमकता हुआ मणि है; या निशा-नायिका के चेहरे की मुस्कराहट है; या संध्यानारी की कामकेलि के समय में उसकी छाती पर लगा हुआ नखक्षत है; अथवा जगज्जेता कामदेव का धन्वा है, या तारामोतियों की दो सीपियों में से एक सीपी है।

इसी प्रकार दूज से बढते बढ़ते यह चद्र पूर्णता को पहुँचा। यह पूनों का पूरा चाँद किसके मन को न भाता होगा? यह गोल गोल प्रकाश का पिंड देख भाँति भाँति की कल्पनाएँ मन मे उदय होती हे कि क्या यह निशाअभिसारिका के मुख देखने की आरसी है, या उसके कान का कुंडल अथवा फूल है; या रजनीरमणी के लिलार पर बुक्के का सफेद तिलक है; अथवा स्वच्छ नीले आकाश में यह चंद्र मानों त्रिनेत्र शिव की जटा मे चमकता हुआ कुंद के सफेद फूलों का गुच्छा है। कामवल्लभा रति की अटा मे कूजता हुआ यह कबूतर है, अथवा आकाशरूपी बाजार मे ताराारूपी मोतियों का बेचनेवाला सौदागर है। कूँई की कलियों को विकासित करते, मृगनयनियों के मान को समूल उन्मूलित करते, छिटकी हुई चाँदनी से सब दिशाओं को धवलित करते, अधकार को निगलते चंद्रमा सीढ़ी दर सीढ़ी शिखर के समान आकाशरूपी विशाल पर्वत के मध्य भाग में चढ़ा चला आ रहा है। क्षपा-तम-काड का हटाने-वाला यह चंद्रमा ऐसा मालूम होता है मानों आकाश महा-

सरोवर में श्वेत कमल खिल रहा है जिसमें बीच बीच जो कलंक की कालिमा है सो मानों भौंरे गूँज रहे हैं। अथवा सौंदर्य की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी के स्नान करने की यह बावड़ी है, या कामदेव की कामिनी रति का यह चूना पोता धवल गृह है, या आकाशगंगा के तट पर विहार करनेवाला हंस है जो सोती हुई कूइयों को जगाने को दूत बनकर आया है; या देव-नदी आकाशगंगा का पुंडरीक है, या चाँदनी का अमृतकुंड है; अथवा आकाश मे जो तारे देख पड़ते है वे सब गौएँ हैं उनके झुंड में यह सफेद बैल है; या यह हीरे से जड़ा हुआ पूर्वदिगंगना का कर्णफूल है; या कामदेव के बाणों को चोखा करने के लिये शान धरने का सफेद गोल पत्थर है या संध्यानायिका के खेलने का गेंद है। इसके उदय से पहले सूर्यास्त की किरणों से सब ओर जो ललाई छा गई है सो मानों फागुन में इस रसिया चंद्र ने दिगंगनाओं के साथ फाग खेलने में अबीर उड़ाई है, वही सब ओर आकाश में छाई हुई है। अथवा निशायोगिनी ने तार-प्रसून-समूह से कामदेव की पूजा कर यावत् कामी जनों को अपने वश में करने के लिये छिटकी हुई चाँदनी के बहाने वशीकरण बुका उड़ाया है; अथवा स्वच्छ नीले जल से भरे आकाशहौदा मे कालमहागणक ने रात के नापने को एक घटीयन्त्र छोड़ रखा है; अथवा जगद्विजयी राजा कामदेव का यह श्वेत छत्र है; वियोगीमात्र को कामाग्नि मे झुलसाने को यह दिनमणि है, कदर्पसंगिनी रति देवी

की छुप्पेदार कर्धनी का टिकड़ा है; या उसी में जड़ा चमकता हुआ सफेद हीरा है; या सब कारीगरों के सरताज आतशबाज की बनाई हुई चरखियों का यह एक नमूना है; अथवा महा-पथगामी समयराज के रथ के सूर्य और चंद्रमारूपी दो पहियों मे से यह एक पहिया है जो चलते चलते घिस गया है। इसी से बीच मे कलाई देख पड़ती है; अथवा लोगों की आँखों और मन को तरावट और शीतलता पहुँचानेवाला यह बड़ा भारी बर्फ का कुंड है, इसी से बेदों ने परमेश्वर के विराटभैभव के वर्णन में चद्रमा को मन और नेत्र माना है; या कालखिलाड़ी के खेलने का सफेद गेंद है, समुद्र के नीले पानी मे गिरने से सूखने पर भी जिसमें कहीं कही नीलिमा बाकी रह गई है; या तारे-रूपी मोतीचर के दानों का यह बड़ा भारी पनमेरा लड्डु है; अथवा लोगों के शुभाशुभ काम का लेखा लिखने के लिये यह बिल्लोर की गोल दवात है; या खड़िया मिट्टी का बड़ा भारी ढोंका है; या कालखिलाड़ी की जेबी घड़ी का डायल है; या रजत का कुंड है; या आकाश के नीले गुबज मे सागमरमर का गोल शिखर है। शिशिर और हेमत मे हिम से जो इसकी द्युति दब जाती है सो मानों यह तपस्या कर रहा है जिसका फल यह चित्रा के सयोग से शोभित हो चैत्र की पूनों के दिन पावेगा, जब इसकी द्युति फिर दामिनी सी दमकेगी। इसी से कविकुलगुरु कालिदास ने कहा है—

"हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचंद्रमसोरिव।"

कविता क्या है?

[पंडित रामचंद्र शुक्ल]

कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है। राग से यहाँ अभिप्राय प्रवृत्ति और निवृत्ति के मूल में रहनेवाली अंतःकरणवृत्ति से है। जिस प्रकार निश्चय के लिये प्रमाण की आवश्यकता होती है उसी प्रकार प्रवृत्ति या निवृत्ति के लिये भी कुछ विषयों का वाह्य या मानस प्रत्यक्ष अपेक्षित होता है। यही हमारे रागों या मनोवेगों के—जिन्हें साहित्य में भाव कहते हैं—विषय है। कविता उन मूल और आदिम मनोवृत्तियों का व्यवसाय है जो सजीव सृष्टि के बीच सुखदुख की अनुभूति से विरूप परिणाम द्वारा अत्यंत प्राचीन कल्प में प्रकट हुई और जिनके सूत्र से शेष सृष्टि के साथ तादात्म्य का अनुभव मनुष्य जाति आदि काल से करती चली आई है। वन, पर्वत, नदी, नाले, निर्झर, कछार, पटपर, चट्टान, वृक्ष, लता, झाड़, पशु, पक्षी, अनंत आकाश, नक्षत्र इत्यादि तो मनुष्य के आदिम सहचर है ही; पर खेत, ढुर्री, हल, झोंपड़े, चौपाए आदि भी कुछ कम पुराने नहीं हैं। इनके द्वारा प्राप्त रागात्मक संस्कार मानव अंतःकरण में दीर्घपरंपरा के कारण मूल रूप से बद्ध हैं अतः इनके द्वारा जैसा पक्का रसपरिपाक संभव

है वैसा कल, कारखाने, गोदाम, स्टेशन, एंजिन, हवाई जहाज इत्यादि द्वारा नहीं।

रागों या वेगस्वरूप मनोवृत्तियों का सृष्टि के साथ उचित सामंजस्य स्थापित करके कविता मानवजीवन के व्यापकत्व की अनुभूति उत्पन्न करने का प्रयास करती है। यदि इन वृत्तियों को समेटकर मनुष्य अपने अंतःकरण के मूल रागात्मक अंश को सृष्टि से किनारे कर ले तो फिर उसके जड़ हो जाने में क्या संदेह है? यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घूम घूमकर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों, मंजरियों से लदी हुई अमराइयों, पटपर के बीच खड़े झाड़ों को देख क्षण भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनंदोत्सव में उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलों को देख वह न खिला, यदि सुंदर रूप देख पवित्र भाव से मुग्ध न हुआ, यदि दीनदुखी का आर्त्तनाद सुन न पसीजा, यदि अनाथों और अबलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि हास्य की अनूठी उक्ति पर न हँसा तो उसके जीवन में रह क्या गया? मनुष्य के व्यापार का क्षेत्र ज्यों ज्यों जटिल और सघन होता गया त्यों त्यों सृष्टि के साथ उसके रागात्मक संबंध के विच्छेद की आशंका बढ़ती गई। ऐसी स्थिति में बड़े बड़े कवि ही उसे सँभालते आए हैं।

जो कुछ अब तक कहा गया उससे यह स्पष्ट है कि सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य की भीतरी रागात्मिका प्रकृति

का सामंजस्य ही कविता का लक्ष्य है। वह जिस प्रकार प्रेम, क्रोध, करुणा, घृणा आदि मनोवेगों या भावों पर सान चढ़ाकर उन्हे तीक्ष्ण करती है उसी प्रकार जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उनका उचित संबंध स्थापित करने का भी उद्योग करती है। इस बात का निश्चय हो जाने पर वे सब मतभेद दूर हो जाते है जो काव्य के नाना लक्षणों और विशेषतः रस आदि के भेदप्रतिबाधों के कारण चल पडे हैं। ध्वनि सप्रदायवालों का नैयायिकों से उलझना, आलंकारिकों का रसप्रतिपादकों से झगड़ना एक पतली गली में बहुत से लोगों का धक्कमधक्का करने के समान है। "वाक्य रसात्मकं काव्यम्" में कुछ लोगों को जो अव्याप्ति दिखाई पड़ा है वह नौ भेदों के कारण। रस के नौ भेदों की लीक के भीतर सृष्टि के बहुत थोडे से अंश के वर्णन के लिये शृंगार के उद्दीपन विभाव के अतर्गत उन्हे थोड़ी सी जगह दिखाई पड़ी। हमारे पिछले खेवे के हिंदी कवियो ने तो उतने ही पर सतोष किया। रीति के अनुसार 'षट् ऋतु' के अतर्गत कुछ इनीगिनी वस्तुओं को लेकर कभी नायिका को हर्ष से पुलकित करके और कभी विरह से विकल करके वे चलते हुए।

बात यह है कि आरंभ में कहे हुए काव्य के व्यापक आदर्श से जिस समय संस्कृत काव्य च्युत हो चुका था उस समय मे हिंदीकाव्य अग्रसर हुआ, इससे उसमें सृष्टिवर्णन का व्यापक समावेश न होने पाया। यह कमी केशव की लीक

पीटनेवाले 'कविंदों' में ही नहीं है, प्रत्युत उनसे पहले के वास्तविक काव्य, महाकाव्य, आख्यानकाव्य रचनेवाले बड़े बड़े कवियों में भी पाई जाती है। वाल्मीकि के वर्षा और शरद् के विशद वर्णन को गो० तुलसीदासजी के वर्णनों से मिलाने से यह बात समझ में आ जायगी। कहाँ—

क्वचित्प्रकाशं क्वचिदप्रकाश
नभः प्रकीर्णाम्बु घन विभाति।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

और

व्यामिश्रिता सर्जकदंबपुष्पै-
र्नव जलं पर्वतधातुताम्रम्।
मयूरकेकाभिरनुप्रयाता
शैलापगाः शीघ्रतरं वहति॥

और कहाँ—

बरसहिं जलद भूमि नियराए।
यथा नवहिं बुध विद्या पाए॥
दामिनि दमक रही घन माहीं।
खल की प्रीति यथा थिर नाहीं॥

कहाँ प्रकृति का वह सूक्ष्म निरीक्षण कहाँ उदाहरण की ओर यह दौड़ना। बाबाजी की दृष्टि 'यथा नवहिं बुध विद्या पाए' इस उपदेशात्मक वाक्य की ओर अधिक जान पड़ती है, वस्तुवर्णन की ओर कम। भारतेंदु का गगा और यमुना-

वर्णन अच्छा कहा जाता है पर वह भी परंपराभुक्त और उपमा-प्रधान है।

हिंदीवाले चाहे ऐसे वर्णनों से अपना संतोष कर लें पर जिनकी आँखों के सामने कुमारसंभव का हिमालयवर्णन और मेघदूत का नाना-प्रदेश-वर्णन नाच रहा था वे स्पष्ट देख सके कि प्रकृति का वह सूक्ष्म निरीक्षण शृंगार के उद्दीपन विभाव की दृष्टि से नहीं है, शुद्ध वर्णन के निमित्त, दृश्य अंकित करने के निमित्त है। उन्होंने रस की नौ नालियों के भीतर ऐसे शुद्ध वर्णनों के लिये कोई गड्ढा न पाकर 'रसात्मक वाक्यम्' से असंतोष प्रकट किया। पर असंतोष नाली बनानेवालों के प्रति होना चाहिए था, रस के सिद्धांत के प्रति नहीं। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में एक प्रकार का रस अवश्य है चाहे उसे अनिर्वचनीय कहिए, चाहे उसका कोई नाम रखिए, चाहे उसे किसी रस के भीतर कीजिए।

कार्य में प्रवृत्ति

यदि क्रोध, करुणा, दया, प्रेम आदि मनोभाव मनुष्य के अंतःकरण से निकल जायँ तो वह कुछ भी नहीं कर सकता। कविता हमारे मनोभावों को उच्छ्वसित करके हमारे जीवन में एक नया जीवन डाल देती है, हम सृष्टि के सौंदर्य को देख कर मोहित होने लगते हैं; कोई अनुचित या निष्ठुर काम हमें असह्य होने लगता है; हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन

कई गुना अधिक होकर समस्त संसार में व्याप्त हो गया है।
इस प्रकार कविता की प्रेरणा से कार्य में प्रवृत्ति बढ़ जाती है।
केवल विवेचना के बल से हम किसी कार्य मे बहुत कम प्रवृत्त
होते हैं। केवल इस बात को जानकर ही हम किसी काम के
करने या न करने के लिये प्रायः तैयार नहीं होते कि वह काम
अच्छा है या बुरा, लाभदायक है या हानिकारक। जब उसको
या उसके परिणाम की कोई ऐसी बात हमारे सामने उपस्थित
हो जाती है जो हमें आह्लाद, क्रोध, करुणा आदि से विचलित
कर देती है तभी हम उस काम को करने या न करने के लिये
प्रस्तुत होते है। केवल बुद्धि हमें काम करने के लिये उत्तेजित
नहीं करती। काम करने के लिये मन ही हमको उत्साहित
करता है। अतः कार्यप्रवृत्ति के लिये मन में वेग का आना
आवश्यक है। यदि किसी जनसमुदाय के बीच कहा जाय
कि अमुक देश तुम्हारा इतना रुपया प्रतिवर्ष उठा ले जाता है;
इसी से तुम्हारे यहाँ अकाल और दारिद्रय बना रहा है, तो
सभव है कि उस पर कुछ प्रभाव न पडे। पर यदि दारिद्रय
और अकाल का भीषण दृश्य दिखाया जाय, पेट की ज्वाला से
जले हुए प्राणियों के अस्थिपंजर कल्पना के सम्मुख रखे जायँ
और भूख से तड़पते हुए बालक के पास बैठी हुई माता का
आर्त्त स्वर सुनाया जाय तो बहुत से लोग क्रोध और करुणा से
विह्वल हो उठेंगे और इन बातों को दूर करने का यदि उपाय नहीं
तो संकल्प अवश्य करेंगे। पहले प्रकार की बात कहना राज-

ज्योतिषी का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य दिखाना कवि का कर्त्तव्य है। मानवहृदय पर दोनों में से किसका अधिकार अधिक हो सकता है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं।

स्वभावसंशोधन

कविता के द्वारा हम संसार के सुख, दुःख, आनंद और क्लेश आदि यथार्थ रूप से अनुभव करने में अभ्यस्त होते हैं जिससे हृदय की स्तब्धता हटती है और मनुष्यता आती है। किसी लोभी और कंजूस दूकानदार को देखिए जिसने लोभ के वशीभूत होकर क्रोध, दया, भक्ति, आत्माभिमान आदि मनोविकारों को दबा दिया है और संसार के सब सुखों से मुँह मोड़ लिया है। अथवा किसी महाक्रूर राजकर्मचारी के पास जाइए जिसका हृदय पत्थर के समान जड़ और कठोर हो गया है, जिसे दूसरे के दुःख और क्लेश का अनुभव स्वप्न में भी नहीं होता। ऐसा करने से आपके मन में यह प्रश्न अवश्य उठेगा कि क्या इनकी भी कोई दवा है। ऐसे हृदयों को द्रवीभूत करके उन्हें अपने स्वाभाविक धर्म पर लाने का सामर्थ्य काव्य ही में है। कविता ही उस दूकानदार की प्रवृत्ति को भौतिक और आध्यात्मिक सृष्टिसौंदर्य की ओर ले जायगी; कविता ही उनका ध्यान औरों की आवश्यकताओं की ओर आकर्षित करेगी और उनकी पूर्ति करने की इच्छा उत्पन्न करेगी; कविता ही उसे उचित अवसर पर क्रोध, दया, भक्ति, आत्माभिमान

आदि सिखावेगी। इसी प्रकार उस राजकर्मचारी के सामने कविता ही उसके कार्यों का प्रतिबिंब खींचकर रखेगी और उनकी जघन्यता और भयकरता का आभास दिखलावेगी; तथा दैवी किंवा अन्य मनुष्यों द्वारा पहुँचाई हुई पीड़ा और क्लेश के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश को दिखलाकर उसे दया दिखाने का अभ्यास कराएगी।

मनोरंजन

प्रायः लोग कहा करते हैं कि काव्य का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन है। मेरी समझ में केवल मनोरंजन उसका साध्य नहीं है। कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है, पर उसके उपरांत कुछ और भी होता है। मनोरंजन करना कविता का वह प्रधान गुण है जिससे वह मनुष्य के चित्त को अपना प्रभाव जमाने के लिये वश में किए रहती है, उसे इधर उधर जाने नहीं देती। यही कारण है कि नीति और धर्म-संबंधी उपदेश चित्त पर वैसा असर नहीं करते जैसा कि काव्य या उपन्यास से निकली हुई शिक्षा असर करती है। केवल यही कहकर कि "परोपकार करो", "सदैव सच बोलो", "चोरी करना महापाप है" हम यह आशा कदापि नहीं कर सकते कि कोई अपकारी मनुष्य परोपकारी हो जायगा, झूठा सच्चा हो जायगा और चोर चोरी करना छोड़ देगा। क्योंकि पहले तो मनुष्य का चित्त ऐसी सूखी शिक्षाएँ ग्रहण करने के

लिये उद्यत ही नहीं होता; दूसरे मानवजीवन पर उनका कोई प्रभाव अंकित न देखकर वह उनकी कुछ परवा नहीं करता। पर कविता अपनी मनोरंजक शक्ति के द्वारा पढ़ने या सुनने-वाले का चित्त उचटने नहीं देती, उसके हृदय के मर्म स्थानों को स्पर्श करती है और सृष्टि में उक्त कर्मों के स्थान और संबंध की सूचना देकर मानवजीवन पर उनके प्रभाव और परिणाम विस्तृत रूप से अंकित करके दिखलाती है। इंद्रासन खाली कराने का वचन देकर, हूर और गिलमा का लालच दिखाकर, यमराज का स्मरण दिलाकर, दोजख की जलती हुई आग की धमकी देकर हम बहुधा किसी मनुष्य को सदाचारी और कर्त्तव्यपरायण नहीं बना सकते। बात यह है कि इस तरह का लालच या धमकी ऐसी है जिससे मनुष्य परिचित नहीं और जो इतनी दूर की है कि उसकी परवा करना मानवप्रकृति के विरुद्ध है। सदा-चार में एक अलौकिक सौंदर्य और माधुर्य होता है। अतः लोगों को सदाचार की ओर आकर्षित करने का प्रकृत उपाय यही है कि उनको उसका सौंदर्य और माधुर्य दिखाकर लुभाया जाय, जिससे वे बिना आगा पीछा सोचे मोहित होकर उसकी ओर ढल पड़ें।

मन को अनुरंजित करना और उसे सुख पहुँचाना ही यदि कविता का धर्म माना जाय तो कविता भी केवल विलास की सामग्री हुई। परंतु क्या हम कह सकते हैं कि वाल्मीकि का आदि काव्य, कालिदास का मेघदूत, तुलसीदास का रामचरित-

मानस या सूरदास का सूरसागर विलास की सामग्री है? यदि इन ग्रंथों से मनोरंजन होगा तो चरित्र संशोधन भी अवश्य ही होगा। मन लगने से यह सूचित होगा कि मन अब इस अवस्था में हो गया है कि उस पर कोई प्रभाव डाला जाय। खेद के साथ कहना पडता है कि हिंदी भाषा के अनेक कवियों ने शृंगार रस की उन्मादकारिणी उक्तियों से साहित्य को इतना भर दिया है कि कविता भी विलास की एक सामग्री समझी जाने लगी है। पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुक्से भी कवि लोग तैयार करने लगे।

गरमी के मौसिम के लिये एक कविजी आज्ञा करते हैं—

सीतल गुलाबजल भरि चहबच्चन मे,
डारि कै कमलदल न्हायबे को धँसिए।
कालिदास अंग अंग अगर अतर संग,
केसर उसीर नीर घनसार घसिए।
जेठ मे गोविंदलाल चंदन के चहलन,
भरि भरि गोकुल के महलन बसिए।

अब शिशिर के मसाले सुनिए—

गुलगुली गिलमे गलीचा हैं गुनीजन हैं,
चिक हैं चिराकैं हैं चिरागन की माला हैं।
कहैं पदमाकर हैं गजक गजा हू सजी,
शय्या हैं, सुरा है, सुराही है, सुप्याला है।

शिशिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हैं,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।

ऐसी शृंगारिक कविता को कोई विलास की सामग्री कह बैठे तो उसका क्या दोष? सारांश यह कि कविता का काम मनोरंजन ही नहीं, कुछ और भी है।

चरित्रचित्रण द्वारा जितनी सुगमता से शिक्षा दी जा सकती है उतनी सुगमता से किसी और उपाय द्वारा नहीं। आदि काव्य रामायण में जब हम भगवान् रामचंद्र के प्रतिज्ञा-पालन, सत्यव्रताचरण और पितृभक्ति आदि की छटा देखते हैं; भरत के सर्वोच्च स्वार्थत्याग और सर्वांगपूर्ण सात्विक चरित्र का अलौकिक तेज देखते हैं, तब हमारा हृदय श्रद्धा, भक्ति और आश्चर्य से स्तंभित हो जाता है। इसके विरुद्ध जब हम रावण की दुष्टता और उद्दंडता का चित्र देखते हैं तब समझते हैं कि दुष्टता क्या चीज है और उसका प्रभाव और परिणाम सृष्टि में क्या है। अब देखिए कविता द्वारा कितना उपकार होता है। उसका काम भक्ति, श्रद्धा, दया, करुणा, क्रोध और प्रेम आदि मनोवेगों को तीव्र और परिमार्जित करना तथा सृष्टि की वस्तुओं और व्यापारों से उनका उचित और उपयुक्त संबंध स्थिर करना है।

उच्च आदर्श

कविता मनुष्य के हृदय को उन्नत करती है और ऐसे ऐसे उत्कृष्ट और अलौकिक पदार्थों का परिचय कराती है जिनके द्वारा यह लोक देवलोक और मनुष्य देवता हो सकता है।

कविता की आवश्यकता

कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य और असभ्य सभी जातियों में पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता अवश्य होगी। इसका क्या कारण है? बात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा घना मंडल बाँधता चला आ रहा है जिसके भीतर फँसकर वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का संबंध कभी कभी नहीं रख सकता। इस बात से मनुष्य की मनुष्यता जाती रहने का डर रहता है। अतएव मानुषी प्रकृति को जाग्रत रखने के लिये कविता मनुष्यजाति के संग लग गई है। कविता यही प्रयत्न करती है कि शेष प्रकृति से मनुष्य की दृष्टि फिरने न पावे। जानवरों को इसकी जरूरत नहीं। हमने किसी उपन्यास में पढ़ा है कि एक चिड़चिड़ा बनिया अपनी सुशीला और परम रूपवती पुत्रवधू को अकारण निकालने को उद्यत हुआ। जब उसके पुत्र ने अपनी स्त्री की ओर से कुछ कहा तो वह चिढ़कर बोला—"चल चल! भोली सूरत पर मरा जाता है।" आह! यह कैसा अमानुषिक बर्ताव है! सांसारिक बंधनों में फँसकर मनुष्य का हृदय कभी कभी इतना कठोर और कुंठित हो जाता है कि उसकी चेतना—उसका मानुष भाव—कम हो जाता है। न उसे किसी का रूपमाधुर्य देखकर उस पर उपकार करने की इच्छा होती है, न उसे किसी दीन-दुखिया की पीड़ा देखकर करुणा आती है, न उसे अपमान-

सूचक बातें सुनकर क्रोध आता है। ऐसे लोगों से यदि किसी लोम-हर्षण अत्याचार की बात कही जाय तो, मनुष्य के स्वाभाविक धर्मानुसार, वे क्रोध या घृणा प्रकट करने के स्थान पर रुखाई के साथ यही कहेंगे -"जाने दो, हम से क्या मतलब ? चलो, अपना काम देखो।" याद रखिए, यह महाभयानक मानसिक रोग है। इससे मनुष्य जीते जी मृतवत् हो जाता है। कविता इसी मर्ज की दवा है।

सृष्टिसौंदर्य

कविता सृष्टिसौंदर्य का अनुभव कराती है और मनुष्य को सुंदर वस्तुओं में अनुरक्त और कुत्सित वस्तुओं से विरक्त करती है। कविता जिस प्रकार विकसित कमल, रमणी के मुख आदि का सौंदर्य चित्त में अंकित करती है उसी प्रकार औदार्य, वीरता, त्याग, दया इत्यादि का सौंदर्य भी दिखाती है। जिस प्रकार वह रौरव नरक और गंदी गलियों की वीभत्सता दिखाती है उसी प्रकार क्रूरों की हिंसावृत्ति और दुष्टों की ईर्ष्या आदि की जघन्यता भी। यहीं तक नहीं, जिन वृत्तियों का प्रायः बुरा रूप ही हम संसार में देखा करते हैं उनका सुंदर रूप भी वह अलग करके दिखाती है। दशवदननिधनकारी राम के क्रोध के सौंदर्य पर कौन मोहित न होगा ? जो कविता रमणी के रूपमाधुर्य से हमें आह्लादित करती है वही उसके अंतःकरण की सुंदरता और कोमलता आदि की मनोहारिणी छाया

दिखाकर मुग्ध भी करती है। जिस बंकिम की लेखनी ने गढ़ के ऊपर बैठी हुई राजकुमारी तिलोत्तमा के अंग प्रत्यंग की शोभा को अंकित किया है उसी ने आयशा के अंतःकरण की अपूर्व सात्त्विक ज्योति दिखाकर पाठकों का चमत्कृत किया है। बाह्य सौंदर्य के अवलोकन से हमारी आत्मा को जिस प्रकार संतोष होता है उसी प्रकार मानसिक सौंदर्य से भी। जिस प्रकार वन, पर्वत, नदी, झरने आदि से हम आह्लादित होते हैं उसी प्रकार मानसिक अंतःकरण मे प्रेम, स्वार्थत्याग, दया, दाक्षिण्य, करुणा, भक्ति आदि उदात्त वृत्तियों को प्रतिष्ठित देख हम आनंदित होते है। यदि इन दोनों बाह्य और आभ्यतर सौंदर्य का कहीं सयोग दिखाई पड़े तो फिर क्या कहना है! यदि किसी अत्यंत सुंदर पुरुष वा अत्यंत रूपवती स्त्री के रूपमात्र का वर्णन करके हम छोड़ दें तो चित्र अपूर्ण होगा, किंतु यदि हम साथ ही हृदय की दृढ़ता और सत्यप्रियता अथवा कोमलता और स्नेहशीलता आदि की भी झलक दिखाएँ तो उस वर्णन में सजीवता आ जायगी।

बात यह है कि कविता सौंदर्य और सात्त्विकशीलता या कर्त्तव्यपरायणता में भेद नहीं देखा चाहती। इसी से उत्कर्ष-साधन के लिये कवियों ने प्रायः रूपसौंदर्य और अंतःकरण के सौंदर्य का मेल कराया है। राम का रूपमाधुर्य और रावण का विकराल रूप अंतःकरण के प्रतिबिंब मात्र है। बाह्य प्रकृति को भी मिला लेने से वर्णन का प्रभाव कभी कभी बहुत

बढ़ जाता है। चित्रकूट ऐसे रम्य स्थान में राम और भरत ऐसे रूपवानों के रम्य अंत:करण की छटा क्या कहना है!

कविता का दुरुपयोग

जो लोग स्वार्थवश व्यर्थ की प्रशंसा और खुशामद करके वाणी का दुरुपयोग करते हैं वे सरस्वती का गला घोंटते हैं। ऐसी तुच्छ वृत्तिवालो को कविता न करनी चाहिए। कविता उच्चाशय, उदार और निःस्वार्थ हृदय की उपज है। सत्कवि मनुष्यमात्र के हृदय मे सौंदर्य का प्रवाह बहानेवाला है। उसकी दृष्टि में राजा और रंक सब समान हैं। वह उन्हे मनुष्य के सिवा और कुछ नहीं समझता। जिस प्रकार महल में रहने-वाले बादशाह के वास्तविक सद्गुणों की वह प्रशंसा करता है उसी प्रकार झोपड़े मे रहनेवाले किसान के सद्गुणों की भी। श्रीमानों के शुभागमन की कविता लिखना और बात बात पर उनको बधाई देना सत्कवि का काम नहीं। हाँ, जिसने निःस्वार्थ होकर और कष्ट सहकर देश और समाज की सेवा की है, दूसरों का हितसाधन किया है, धर्म का पालन किया है ऐसे परो-पकारी महात्मा का गुणगान करना उसका कर्त्तव्य है।

कविता की भाषा

मनुष्य स्वभाव ही से प्राचीन पुरुषों और वस्तुओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। पुराने शब्द हम लोगो को मालूम ही रहते हैं। इसी से कविता में कुछ न कुछ पुराने शब्द आ ही

जाते हैं उनका थोड़ा बहुत बना रहना अच्छा भी है। वे आधुनिक और पुरातन कविता के बीच संबंधसूत्र का काम देते हैं। हिंदी मे "राजते है", "गहते हैं", "लहते हैं", "सरमाते हैं" आदि प्रयोगों का खडो बोलो तक की कविता मे बना रहना कोई अचभे की बात नहीं। अगरेजी कविता में भी ऐसे शब्दों का अभाव नहीं है जिनका व्यवहार बहुत पुराने जमाने से कविता मे होता आया है। 'Main', 'Swain' आदि शब्द ऐसे ही है। अंगरेजी कविता समझने के लिये इनसे परिचित होना पड़ता है। पर ऐसे शब्द बहुत थोड़े आने चाहिए, वे भी ऐसे जो भद्दे और गवाँरू न हों। खड़ी बोली में सयुक्त क्रियाएँ बहुत लंबी होती हैं जैसे—"लाभ करते हैं", "प्रकाश करते हैं" आदि कविता में इनके स्थान पर "लहते हैं", "प्रकाशते है" कर देने से कोई हानि नहीं। पर यह बात इस तरह के सभी शब्दो के लिये ठीक नहीं हो सकती।

कविता मे कही गई बात चित्र रूप मे हमारे सामने आती है, सकेत रूप में नहीं। अतः उसमें गोचर रूपों का ही विधान अधिकतर होता है। वह ऐसे ही व्यापारों को लेती है जो ससार में सबसे अधिक मनुष्यों को सबसे अधिक दिखाई पड़ते है। उसमें प्रत्यक्ष और स्वभावसिद्ध व्यापारसूचक शब्दों की सख्या अधिक रहती है। "समय बीता जाता है" कहने की अपेक्षा "समय भागा जाता है" कहना अधिक काव्य-

संमत है। किसी काम से हाथ खींचना, किसी का रुपया खा जाना, कोई बात पी जाना, दिन ढलना या डूबना, मन मारना, मन छूना शोभा बरसना आदि ऐसे ही कविसमयसिद्ध वाक्य हैं जो बोलचाल में आ गए हैं। नीचे कुछ पद्य उदाहरण स्वरूप दिए जाते हैं—

(क) धन्य भूमि बन पंथ पहारा।

जहँ जहँ नाथ पाँव तुम धारा॥—तुलसीदास

(ख) मनहुँ उमगि अँग अँग छबि छलकै।—तुलसी

(ग) चूनरि चारु चुई सी परै चटकीली हरी अँगिया ललचावे।

(घ) बीथिन मैं ब्रज मे नवेलिन में बेलिन मैं बनग मे बागन मैं बगरो बसंत है।—पद्माकर

(ङ) रँग रँग रागन पै, संग ही परागन पै, बृंदावन बागन पै, बसंत बरसो परै।

बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनसे एक ही को नहीं किंतु कई क्रियाओं का एक ही साथ बोध होता है। ऐसे शब्दों को हम मिश्रसंकेत कह सकते हैं। किसी ने कहा 'वहाँ बड़ा अत्याचार हो रहा है।' इस अत्याचार शब्द के अंतर्गत मारना, पीटना, डाटना, डपटना, लूटना पाटना इत्यादि बहुत से व्यापार हो सकते है अतः 'अत्याचार' शब्द के सुनने से उन सब व्यापारों का एक मिला जुला अस्पष्ट भाव अंतःकरण में आता है, कल्पना में किसी एक व्यापार का स्पष्ट चित्र अंकित नहीं

होता। इससे यह शब्द कविता के उतने काम का नहीं है। ऐसे शब्द वैज्ञानिक विषयों में अधिक आते हैं। उनमें से कुछ शब्द तो एक विलक्षण ही अर्थ देते हैं और परिभाषिक कहलाते है। विज्ञानवेत्ता को किसी बात की सत्यता या असत्यता के निर्णय की जल्दी रहती है। इससे वह कई बातों को एक मानकर अपना काम चलाता है; प्रत्येक काम को पृथक् पृथक् दृष्टि से नहीं देखता। यही कारण है जो वह ऐसे शब्द अधिक व्यवहार करता है जिससे कई क्रियाओं से घटित एक ही भाव का अर्थ निकलता है। परंतु कविता प्राकृतिक व्यपारों को कल्पना द्वारा प्रत्यक्ष कराती है—मानव हृदय पर अंकित करती है। अतएव पूर्वोक्त प्रकार के शब्द अधिक लाने से कविता के प्रसाद गुण की हानि होती है और व्यक्त किए गऐ भाव हृदय पर अच्छी तरह अंकित नहीं होते। बात यह है कि मानवी कल्पना इतनी प्रशस्त नहीं कि एक ही बार में कई व्यापार उसके द्वारा हृदय पर स्पष्ट रीति से खचित हो सकें। यदि कोई ऐसा शब्द प्रयोग में लाया गया जो कई संयुक्त व्यापारों का बोधक है तो, सभव है, कल्पनाशक्ति किसी एक व्यापार को भी न ग्रहण कर सके; अथवा तदतर्गत कोई ऐसा व्यापार ग्रहण करे जो रागात्मिका प्रकृति का उद्दीपक न हो। तात्पर्य यह कि परिभाषिक शब्दों का प्रयोग, तथा ऐसे शब्दों का समावेश जो किन्हीं सयुक्त व्यापारों की सूचना देते हैं, कविता में वाञ्छित नहीं।

किसी ने "प्रेमफौजदारी" नाम की शृंगाररसविशिष्ट एक छोटी सी कविता अदालती कार्रवाइयों पर घटाकर लिखी है और उसे "एकतरफा डिगरी" आदि कानूनी शब्दों से भर दिया है। यह उचित नहीं। कविता का उद्देश्य इसके विपरीत व्यवहार से सिद्ध होता है। जब कोई कवि किसी दार्शनिक सिद्धात को अधिक प्रभावोत्पादक बनाकर उसे लोगों के चित्त पर अंकित करना चाहता है तब वह जटिल और पारिभाषिक शब्दों को निकालकर उसे अधिक प्रत्यक्ष और मर्मस्पर्शी रूप देता है। भर्तृहरि, कबीर, गोस्वामी तुलसीदास आदि इस बात मे बहुत निपुण थे। भर्तृहरि का एक श्लोक लीजिए—

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि
क्षुधार्तः सञ्छालीन्कवलयति शाकादिवलितान् ।
प्रदीप्ते रागाग्नौ सुदृढतरमाश्लिष्यति वधू
प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥

भावार्थ—प्यासे होने पर स्वादिष्ट और सुगधित जलपान, भूखे होने पर शाकादि के साथ चावलों का भोजन, और हृदय मे अनुरागाग्नि के प्रज्वलित होने पर प्रियतमा का आलिंगन करनेवाले मनुष्य विलक्षण मूर्ख हैं। क्योंकि प्यास आदि व्याधियों की शाति के लिये जलपान आदि प्रतीकारों ही को वे सुख समझते है। वे नहीं जानते कि उनका यह उपचार बिलकुल ही उलटा है।

देखिए, यहाँ पर कवि ने कैसे स्वाभाविक व्यापारों के चित्रण द्वारा मनुष्य की सुखदुखविषयक बुद्धि की भ्रामकता दिखलाई है।

अँगरेजों में भी पोप कवि इस विषय मे बहुत सिद्धहस्त था। नीचे उसका एक साधारण सिद्धांत लिखा जाता है—

"भविष्यत् मे क्या होनेवाला है, इस बात की अनभिज्ञता इसलिये दी गई है जिसमे सब लोग, आनेवाले अनिष्ट की शंका से, उस अनिष्ट घटना के पूर्ववर्त्ती दिनों के सुख को भी न खो बैठे।"

इस बात को पोप कवि इस तरह कहता है—

उस बलिपशु को देख आज जिसका, तू हे नर!
निज उमग में रक्त बहाएगा वेदी पर।
होता उसको ज्ञान कहीं तेरा है जैसा।
क्रीड़ा करता कभी उछलता फिरता ऐसा?
अंतिम क्षण तक खाता पीता काल काटता।
हनने को जो हाथ उठा है उसे चाटता।
आगम का अज्ञान ईश का परम अनुग्रह।*

---

* The lamb thy riot dooms to bleed to-day.
Had he thy reason, would he skip and play?
Pleased to the last he crops the flow ry food
And licks the hand just raised to shed his blood.

....

The blindness to the future kindly given.
—Essay on man

"अनिष्ट" शब्द बहुत व्यापक और संदिग्ध है, अतः कवि मृत्यु ही को सबसे अधिक अनिष्ट वस्तु समझता है। मृत्यु की आशंका से प्राणिमात्र का विचलित होना स्वाभाविक है। कवि दिखलाता है कि पशु ही मृत्यु सिर पर नाचते रहते भी सुखी रहता है, यहाँ तक कि वह प्रहारकर्त्ता के हाथ को चाटता जाता है, यह एक अद्भुत और मर्मस्पर्शी दृश्य है। पूर्वोक्त सिद्धांत को यहाँ काव्य का रूप प्राप्त हुआ है।

एक और साधारण सा उदाहरण लीजिए। "तुमने उससे विवाह किया" यह बहुत ही साधारण वाक्य है। पर "तुमने उसका हाथ पकड़ा" यह एक विशेष अर्थगर्भित और काव्यो-चित वाक्य है। 'विवाह' शब्द के अंतर्गत बहुत से विधान हैं जिन पर सब कोई एक दफे दृष्टि नहीं डाल सकते। अतः उससे कोई बात स्पष्ट रूप से कल्पना में नहीं आती। इस कारण इन विधानों में से सबसे प्रधान और स्वाभाविक बात जो हाथ पकड़ना है उसे चुनकर कवि अपने अर्थ को मनुष्य के हृत्पटल पर रेखांकित करता है।

श्रुतिसुखदत्व।

कविता की बोली और साधारण बोली में बड़ा अंतर है। "शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे" और "नीरसतरुरिह विलसति पुरतः" वाली बात हमारी पंडितमंडली में बहुत दिन से चली आती है। भावसौंदर्य और नादसौंदर्य दोनों के संयोग से कविता

की सृष्टि होती है। श्रुतिकटु मानकर कुछ अक्षरों का परित्याग, वृत्तविधान और अंत्यानुप्रास का बंधन, इसी नाद॰ सौंदर्य के निबाहने के लिये है। बिना इसके कविता करना, अथवा इसी को सर्वस्व मानकर कविता करने की कोशिश करना, निष्फल है। नादसौंदर्य के साथ भावसौंदर्य भी होना चाहिए। हिंदी के कुछ पुराने कवि इस नाद-सौंदर्य के इतना पीछे पड़ गए थे कि उनकी अधिकांश कविता विकृत और प्रायः भावशून्य हो गई है। यह देखकर आज कल के कुछ समालोचक इतना चिढ़ गए हैं कि ऐसी कविता को एकदम निकाल बाहर करना चाहते हैं। किसी को अंत्यानुप्रास का बंधन खलता है; कोई गणात्मक छंदों को देखकर नाकभौं चढ़ाता है, कोई फारसी के मुखम्मस और रुबाई की ओर झुकता है। हमारी छंदोरचना तक की कोई कोई अवहेलना करते हैं—वह छंदोरचना जिसके माधुर्य को भूमंडल के किसी देश का छंदःशास्त्र नहीं पा सकता और जो हमारी श्रुतिसुखदाता के स्वाभाविक प्रेम के सर्वथा अनुकूल है। जो लोग अंत्यानुप्रास की बिलकुल आवश्यकता नहीं समझते उनसे मुझे यही पूछना है कि अंत्यानुप्रास ही पर इतना कोप क्यों? छंद और तुक दोनों ही नादसौंदर्य के उद्देश से रखे गए हैं। फिर क्यों एक निकाला जाय दूसरा नहीं? यदि कहा जाय कि सिर्फ छंद ही से उस उद्देश्य की सिद्धि हो जाती है तो यह जानने की इच्छा बनी रहती है कि

यथा कविता के लिये नादसौंदर्य की कोई सीमा नियत है। यदि किसी कविता में भावसौंदर्य के साथ नादसौंदर्य भी वर्तमान हो तो वह अधिक ओजस्विनी और चिरस्थायिनी होगी। नादसौंदर्य कविता के स्थायित्व का वर्द्धक है, उसके बल से कविता ग्रंथाश्रयविहीन होने पर भी किसी न किसी अंश में लोगों की जिह्वा पर बनी रहती है। अतएव इस नादसौंदर्य को केवल बधन ही न समझना चाहिए। यह कविता की आत्मा नहीं तो शरीर अवश्य है।

नादसौंदर्य संबधी नियमों को गणितक्रिया के समान काम मे लाने से हमारी कविता में कहीं कहीं बड़ी विलक्षणता आ गई है। श्रुतिकटु वर्णों का निर्देश इसलिये नहीं किया गया कि जितने अक्षर श्रवणकटु हैं वे एकदम त्याज्य समझे जायँ और उनकी जगह पर श्रवणसुखद वर्ण ढूँढ ढूँढकर रखे जायँ। इस नियमनिर्देश का मतलब इतना ही है कि यदि मधुराक्षरवाले शब्द मिल सकें और बिना तोड़मरोड़ के प्रसंगानुसार खप सकें तो उनके स्थान पर श्रुतिकर्कश अक्षरवाले शब्द न लाए जायँ। संस्कृत से संबध रखनेवाली भाषाओं में इस नादसौंदर्य का निर्वाह अधिकता से हो सकता है। अतः अँगरेजी आदि अन्य भाषाओं की देखा-देखी, जिनमे इसके लिये कम जगह है, अपनी कविता को भी हमें इस विशेषता से वंचित कर देना बुद्धिमानी का काम नहीं। पर, याद रहे, सिर्फ श्रुतिमधुर अक्षरों के पीछे दीवाने

रहना और कविता को अन्यान्य गुणों से भूषित न करना सबसे बड़ा दोष है।

एक और विशेषता हमारी कविता मे है। वह यह है कि कहीं कहीं व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उनके रूप, गुण या कार्य्यबोधक शब्दों का व्यवहार किया जाता है। यों देखने मे पद्य के नपे हुए चरणों में खपाने के लिये शब्दों की सख्या का बढाना ही इसका प्रयोजन जान पड़ता है; पर विचार करने से इसका इससे भी गुरुतर उद्देश प्रकट होता है। सच पूछिए तो यह बात कृत्रिमता बचाने के लिये की जाती है। मनुष्यों के नाम यथार्थ मे कृत्रिम संकेत हैं जिनसे कविता की परिपोपकता नहीं होती। अतएव कवि मनुष्यों के नामों के स्थान पर कभी कभी उनके ऐसे रूप, गुण या व्यापार की ओर इशारा करता है जो स्वाभाविक होने के कारण सुननेवाले के ध्यान मे अधिक आ सकते हैं और प्रसगविशेष के अनुकूल होने से वर्णन की यथार्थता को बढाते हैं। गिरिधर, मुरारि, त्रिपुरारि, दीनबधु, चक्रपाणि, दशमुख आदि शब्द ऐसे ही हैं। ऐसे शब्दों को चुनते समय प्रसग या अवसर का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। जैसे, यदि कोई मनुष्य किसी दुर्धर्ष अत्याचारी के हाथ से छुटकारा पाना चाहता हो तो उसके लिये— "हे गोपिकारमण !" "हे वृन्दावनविहारी !" आदि कहकर कृष्ण को पुकारने की अपेक्षा "हे मुरारि !" "हे कंसनिकंदन !" आदि सबोधनो मे पुकारना अधिक उपयुक्त है। क्योंकि

श्रीकृष्ण के द्वारा मुर और कंस आदि दुष्टों का मारा जाना देखकर उसे उनमें अपनी रक्षा की आशा हुई है, न कि उनका वृंदावन में गोपियों के साथ विहार करना देखकर। इसी तरह किसी आपत्ति से उद्धार पाने के लिये कृष्ण को "मुरलीधर" कहकर पुकारने की अपेक्षा "गिरिधर" कहना अधिक अर्थसंगत है।

अलंकार

कविता में भाषा को खूब जोरदार बनाना पड़ता है—उसकी सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है। वस्तु या व्यापार का चित्र चटकीला करने और रसपरिपाक के लिये कभी किसी वस्तु का गुण या आकार बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है, कभी किसी वस्तु के रूप और गुण को वैसी ही और वस्तुओं के साहचर्य द्वारा और मनोरंजक बनाने के लिये उसके समान रूप और धर्मवाली और और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। इस तरह की भिन्न भिन्न वर्णन प्रणालियों का नाम अलंकार है। इनका उपयोग काव्य में प्रसंगानुसार विशेष रूप से होता है। इनसे वस्तुवर्णन में बहुत सहायता मिलती है। कहीं कहीं तो इनके बिना कविता का काम ही नहीं चल सकता। किंतु इससे यह न समझना चाहिए कि अलंकार ही कविता है। अलंकार बोलचाल में भी रोज आते रहते हैं। जैसे, लोग कहते हैं "जिसने शालग्राम को भून डाला उसे भंटा

सुनते क्या लगता है ?" ये काव्य नहीं कहे जा सकते। जहाँ किसी प्रकार की रसव्यंजना होगी वहीं किसी वर्णन-प्रणाली को अलंकारता प्राप्त हो सकती है।

कई वर्ष हुए "अलंकारप्रकाश" नामक पुस्तक के कर्त्ता का एक लेख "सरस्वती" में निकला था। उसका नाम था—"कवि और काव्य"। उसमें उन्होंने अलंकारों की प्रधानता स्थापित करते हुए और उन्हे काव्य का सर्वस्व मानते हुए लिखा था कि "आजकल के बहुत से विद्वानों का मत विदेशी भाषा के प्रभाव से काव्यविषय में कुछ परिवर्त्तित देख पड़ता है। वे महाशय सर्वलोकमान्य साहित्यग्रंथों में विवेचन किए हुए अलंकारयुक्त काव्य को उत्कृष्ट न समझ केवल सृष्टि के वैचित्र्यवर्णन में काव्यत्व समझते हैं।" यदि ऐसा है तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? रस और भाव ही कविता के प्राण हैं। पुराने विद्वान् रसात्मक कविता ही को कविता कहते थे। रसों अथवा मनोविकारों के यथेष्ट परिपाक ही की ओर उनका ध्यान अधिक था। अलंकारों को वे आवश्यकतानुसार वर्णित विषय को विशेषतया हृदयंगम कराने के लिये ही लाते थे। यह नहीं समझा जाता था कि अलंकार के बिना कविता हो ही नहीं सकती। स्वयं काव्यप्रकाश के कर्त्ता मम्मटाचार्य ने बिना अलंकार के काव्य का होना माना है और उदाहरण भी दिया है—"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि"। किंतु पीछे से इन अलंकारों ही में

काव्यत्व मान लेने से कविता अभ्यासगम्य और सुगम प्रतीत होने लगी। इसी से लोग उनकी ओर अधिक झुक पड़े। धीरे धीरे इन अलंकारों के लिये आग्रह बढ़ने लगा, यहाँ तक कि चंद्रालोककार ने लिख डाला—

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥

अर्थात्—जो अलंकाररहित शब्द और अर्थ को काव्य मानता है वह अग्नि को उष्णतारहित क्यों नहीं मानता? किंतु यथार्थ बात कब तक छिपाई जा सकती है। इतने दिनों पीछे समय ने फिर पलटा खाया। विचारशील लोगों पर यह बात प्रकट हो गई कि रसात्मक वाक्यों ही का नाम कविता है और रस ही कविता की आत्मा है।

इस विषय में पूर्वोक्त ग्रंथकार महोदय को एक बात कहनी थी; पर उन्होंने नहीं कही। वे कह सकते थे कि सृष्टिवैचित्र्यवर्णन भी तो स्वाभावोक्ति अलंकार है। इसका उत्तर यह है कि स्वभावोक्ति को अलंकार मानना उचित नहीं। वह अलंकार की श्रेणी में आ ही नहीं सकती। वर्णन करने की प्रणाली का नाम अलंकार है। जिस वस्तु को हम चाहें, उस प्रणाली के अंतर्गत करके उसका वर्णन कर सकते हैं। किसी वस्तुविशेष से उसका संबंध न होना चाहिए। वस्तु-निर्देश अलंकार का विषय नहीं, वह यथार्थ में रस का विषय है। अलंकार वर्णनशैली मात्र को कह सकते हैं। इस दृष्टि

से कई अलंकार ऐसे हैं जिन्हे अलंकार नहीं कहना चाहिए; जैसे, स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति से भिन्न अत्युक्ति, स्मरण, अल्प, उदात्त। स्वभावोक्ति में वर्ण्य वस्तु का निर्देश है; पर वस्तुनिर्वाचन अलंकार का काम नहीं। इससे स्वभावोक्ति को अलंकार मानना ठीक नहीं। उसे अलंकार में गिनने-वालों ने बहुत सिर खपाया है; पर उसका निर्दोष लक्षण नहीं कह सके। काव्यप्रकाश के कारिकाकार ने उसका लक्षण लिखा है—

स्वभावोक्तिस्तु डिंभादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्।

अर्थात् जिसमे बालकादिकों की निज की क्रिया या रूप का वर्णन हो वह स्वभावोक्ति है। बालकादिक कहने से किसी वस्तुविशेष का बोध तो होता नहीं। इससे यही समझा जा सकता है कि सृष्टि की वस्तुओं के व्यापार और रूप का वर्णन स्वभावोक्ति है। इस लक्षण मे अतिव्याप्ति दोष के कारण अलंकारता नहीं आती। अलंकारसर्वस्व के कर्त्ता राजानक रुय्यक ने इसका यह लक्षण लिखा है—

सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः।

अर्थात् वस्तु के सूक्ष्म स्वभाव का ठीक ठीक वर्णन करना स्वभावोक्ति है। आचार्य्य दंडी ने अवस्था की योजना करके यह लक्षण लिखा है—

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥

बात यह है कि स्वभावोक्ति अलंकार के अंतर्गत आ ही नहीं सकती, क्योंकि वह वर्णन करने की प्रणाली नहीं, किंतु वर्ण्यवस्तु या विषय है।

जिस प्रकार एक कुरूपा स्त्री अलंकार धारण करने से सुंदर नहीं हो सकती उसी प्रकार अस्वाभाविक, भद्दे और क्षुद्र भावों की अलंकारस्थापना सुंदर और मनोहर नहीं बना सकेगी। महाराज भोज ने भी अलंकार को "अलमर्थमलंकर्तुः" अर्थात् सुंदर अर्थ को शोभित करनेवाला ही कहा है। इस कथन मे अलंकार आने के पहले ही कविता की सुंदरता सिद्ध है। अतः उसे अलंकारों में ढूँढ़ना भूल है। अलंकारों से युक्त बहुत से काव्योदाहरण दिए जा सकते हैं जिनको अलंकार के प्रेमी लोग भी भद्दा और नीरस कहने मे संकोच न करेंगे। इसी तरह बहुत से ऐसे उदाहरण भी दिए जा सकते हैं जिनमे एक भी अलंकार नहीं, किंतु उसके सौंदर्य और मनोरंजकत्व को सब स्वीकार करेंगे। जिन वाक्यों से मनुष्य के चित्त में रससंचार न हो—उसकी मानसिक स्थिति मे कोई परिवर्त्तन न हो—वे कदापि काव्य नहीं। अलंकारशास्त्र की कुछ बातें ऐसी हैं जो केवल शब्द चातुरी मात्र है। शब्दकौशल के कारण वे चित्त को चमत्कृत करती हैं। उनसे रससंचार नहीं होता। वे चमत्कृत चाहे भले ही करें, पर मानवहृदय के स्रोतों से उनका विशेष संबंध नहीं। उनका चमत्कार शिल्कारों की

कारीगरी के समान सिर्फ शिल्पप्रदर्शिनी मे रखने ही योग्य होता है।

अलकार है क्या वस्तु? विद्वानों ने काव्यों के सुदर सुंदर स्थलों को पहले चुना। फिर उनकी वर्णनशैली के सौंदर्य का कारण ढूँढा। तब वर्णनवैचित्र्य के अनुसार भिन्न भिन्न लक्षण बनाए; जैसे "विकल्प" अलकार को पहले पहल राजानक रुय्यक ने ही निकाला है। अब कौन कह सकता है कि काव्यों के जितने सुंदर सुदर स्थल थे सब ढूँढ डाले गए, अथवा जो सुदर समझे गए—जिन्हे लक्ष्य करके लक्षण बने—उनकी सुंदरता का कारण कही हुई वर्णनप्रणाली ही थी। अलकारों के लक्षण बनने तक काव्यों का बनना नहीं रुका रहा। आदि कवि महर्षि वाल्मीकि ने—"मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वतीः समाः" का उच्चारण किसी अलकार को ध्यान मे रखकर नहीं किया। अलकारलक्षणों के बनने के बहुत पहले कविता होती थी और अच्छी होती थी। अथवा यों कहना चाहिए कि जब से इन अलकारों को हठात् लाने का उद्योग होने लगा तब से कविता कुछ बिगड़ चली।

———

आचरण की सभ्यता

[सरदार पूर्णसिंह]

विद्या, कला, कविता, साहित्य, धन और राजत्व से भी आचरण की सभ्यता अधिक ज्योतिष्मती है। आचरण की सभ्यता को प्राप्त करके एक कंगाल आदमी राजाओं के दिलों पर भी अपना प्रभुत्व जमा सकता है। इस सभ्यता के दर्शन से कला, साहित्य और संगीत को अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है। राग अधिक मृदु हो जाता है, विद्या का तीसरा शिवनेत्र खुल जाता है, चित्रकला मौन राग अलापने लग जाती है, वक्ता चुप हो जाता है, लेखक की लेखनी थम जाती है, मूर्ति बनानेवाले के सामने नए कपोल, नए नयन और नवीन छवि का दृश्य उपस्थित हो जाता है।

आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है। इस भाषा का निघंटु शुद्ध श्वेत पत्रोंवाला है। इसमें नाममात्र के लिये भी शब्द नहीं। यह सभ्याचरण नाद करता हुआ भी मौन है, व्याख्यान देता हुआ भी व्याख्यान के पीछे छिपा है, राग गाता हुआ भी राग के सुर के भीतर पड़ा है। मृदु वचनों की मिठास में आचरण की सभ्यता मौन रूप से खुली हुई है। नम्रता, दया प्रेम और उदारता सबके सब सभ्याचरण की भाषा के मौन व्याख्यान हैं। मनुष्य के जीवन पर

मौन व्याख्यान का प्रभाव चिरस्थायी होता है और उनकी आत्मा का एक अंग हो जाता है।

न काला, न नीला, न पीला, न सुफेद, न पूर्वी, न पश्चिमी, न उत्तरी, न दक्षिणी, बेनाम, बेनिशान, बेमकान—विशाल आत्मा के आचरण से मौनरूपिणी सुगंधि सदा प्रसरित हुआ करती है। इसके मौन से प्रसूत प्रेम और पवित्रताधर्म सारे जगत् का कल्याण करके विस्तृत होते हैं। इसकी उपस्थिति से मन और हृदय की ऋतु बदल जाती है। तीक्ष्ण गरमी से जले भुने व्यक्ति आचरण के बादलों की बूँदाबाँदी से शीतल हो जाते हैं। मानसोत्पन्न शरदृतु से क्लेशातुर हुए पुरुष इसकी सुगंधमय अटल वसंत ऋतु के आनंद का पान करते हैं। आचरण के नेत्र के एक अश्रु से जगत् भर के नेत्र भींग जाते है। आचरण के आनंदनृत्य से उन्मदिष्णु होकर वृक्षों और पर्वतों तक के हृदय नृत्य करने लगते है। आचरण के मौन व्याख्यान से मनुष्य को एक नया जीवन प्राप्त होता है। नए नए विचार स्वयं ही प्रकट होने लगते हैं। सूखे काष्ठ सचमुच ही हरे हो जाते हैं। सूखे कूपों में जल भर आता है। नए नेत्र मिलते हैं। कुल पदार्थों के साथ एक नया मैत्री भाव फूट पड़ता है। सूर्य, जल, वायु, पुष्प, पत्थर, घास, पात, नर, नारी और बालक तक में एक अश्रुतपूर्व सुंदर मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं।

मौनरूपी व्याख्यान की महत्ता इतनी बलवती, इतनी अर्थवती और इतनी प्रभावती होती है कि उसके सामने क्या मातृ-

भाषा, क्या साहित्यभाषा और क्या अन्य देश की भाषा—सबकी सब तुच्छ प्रतीत होती है। अन्य कोई भाषा दिव्य नहीं, केवल आचरण की मौनभाषा ही ईश्वरीय है। विचार करके देखो, मौन व्याख्यान किस तरह आपके के हृदय की नाड़ी में सुंदरता पिरो देता है। वह व्याख्यान ही क्या, जिसने हृदय की धुन को—मन के लक्ष्य को—ही न बदल दिया। चंद्रमा की मंद मंद हँसी का—तारागण के कटाक्ष पूर्ण प्राकृतिक मौन व्याख्यान का—प्रभाव किसी कवि के दिल में घुसकर देखो। सूर्यास्त होने के पश्चात्, श्रीकेशवचंद्र सेन और महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर ने सारी रात, एक क्षण की तरह, गुजार दी; यह तो कल की बात है। कमल और नरगिस मे नयन देखनेवाले नेत्रों से पूछो कि मौन व्याख्यान की प्रभुता कितनी दिव्य है।

प्रेम की भाषा शब्दरहित है। नेत्रों की, कपोलों की, मस्तक की भाषा भी शब्दरहित है। जीवन का तत्व भी शब्द से परे है। सच्चा आचरण—प्रभाव, शील, अचलस्थिति संयुक्तआचरण—न तो साहित्य के लंबे व्याख्यानों से गठा जा सकता है, न वेद की श्रुतियों के मीठे उपदेश से, न इंजील से, न कुरान से; न धर्मचर्चा से; न केवल सत्संग से। जीवन के अरण्य मे घुसे हुए पुरुष के हृदय पर प्रकृति और मनुष्य के जीवन के मौन व्याख्यानों के यत्न से, सुनार के छोटे हथौड़े की मंद मंद चोटों की तरह, आचरण का रूप प्रत्यक्ष होता है।

बर्फ का दुपट्टा बाँधे हुए हिमालय इस समय तो अति सुंदर, अति ऊँचा और गौरवान्वित मालूम होता है; परंतु प्रकृति ने अगणित शताब्दियों के परिश्रम से रेत का एक एक परमाणु समुद्र के जल मे डुबो डुबोकर और उनको अपने विचित्र हथौड़ों से सुडौल कर करके इस हिमालय के दर्शन कराए हैं। आचरण भी हिमालय की तरह एक ऊँचे कलशवाला मंदिर है। यह वह आम का पेड़ नहीं जिसको मदारी एक क्षण मे, तुम्हारी आँखों मे धूल डालकर, अपनी हथेली पर जमा दे। इसके बनने मे अनंत काल लगा है। पृथ्वी बन गई, सूर्य बन गया, तारागण आकाश मे दौड़ने लगे, परतु अभी तक आचरण के सुंदर रूप के पूर्ण दर्शन नहीं हुए। कहीं कहीं उसकी अत्यल्प छटा अवश्य दिखाई देती है।

पुस्तकों मे लिखे हुए नुसखों से तो और भी अधिक बद-हजमी हो जाती है। सारे वेद और शास्त्र भी यदि घोलकर पी लिए जायँ तो भी आदर्श आचरण की प्राप्ति नहीं होती। आचरणप्राप्ति की इच्छा रखनेवाले को तर्कवितर्क से कुछ भी सहायता नहीं मिलती। शब्द और वाणी तो साधारण जीवन के चोचले है। ये आचरण की गुप्त गुहा मे नहीं प्रवेश कर सकते। वहाँ इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वेद इस देश मे रहनेवालों के विश्वासानुसार ब्रह्मवाणी हैं, परतु इतना काल व्यतीत हो जाने पर भी आज तक वे समस्त जगत् की भिन्न भिन्न जातियों को सस्कृत भाषा न बुला सके—न समझा

सके—न सिखा सके। यह बात हो कैसे? ईश्वर तो सदा मौन है। ईश्वरीय मौन शब्द और भाषा का विषय नहीं। वह केवल आचरण के कान में गुरु-मन्त्र फूँक सकता है। वह केवल ऋषि के अंतःकरण में वेद का ज्ञानोदय कर सकता है।

किसी का आचरण वायु के झोंके से हिल जाय तो हिल जाय, परंतु साहित्य और शब्द की गोलंदाजी और आँधी से उसके सिर के एक बाल तक का बाँका न होना एक साधारण बात है। पुष्प की कोमल पखड़ी के स्पर्श से किसी को रोमांच हो जाय; जल की शीतलता से क्रोध और विषयवासना शांत हो जायँ, बर्फ के दर्शन से पवित्रता आ जाय; सूर्य की ज्योति से नेत्र खुल जायँ—परंतु अँगरेजी भाषा का व्याख्यान—चाहे वह कारलायल ही का लिखा हुआ क्यों न हो—बनारस में पँडितों के लिये रामरौला ही है। इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय में पँडितों के द्वारा की गई चर्चाएँ और शास्त्रार्थ संस्कृतज्ञानहीन पुरुषों के लिये स्टाम इंजन के फप् फप् शब्द से अधिक अर्थ नहीं रखते। यदि आप कहें कि व्याख्यानों द्वारा, उपदेशों द्वारा, धर्म्मचर्चा द्वारा कितने ही पुरुषों और नारियों के हृदय पर जीवनव्यापी प्रभाव पड़ा है, तो उत्तर यह है कि प्रभाव शब्द का नहीं पड़ता—प्रभाव तो सदा सदाचरण का पड़ता है। साधारण उपदेश तो हर गिरजे, हर मठ और हर मसजिद में होते हैं, परंतु उनका प्रभाव हम पर तभी पड़ता है जब गिरजे का पादड़ी

स्वयं ईसा होता है—मदिर का पुजारी स्वयं ब्रह्मर्षि होता है—मसजिद का मुल्ला स्वय पैगंबर और रसूल होता है।

यदि एक ब्राह्मण किसी डूबती कन्या की रक्षा के लिये—चाहे वह कन्या किसी जाति की हो, किसी मनुष्य की हो, किसी देश की हो—अपने आपको गंगा में फेंक दे—चाहे फिर उसके प्राण यह काम करने मे रहे या जायँ तो इस कार्य के प्रेरक आचरण की मौनमयी भाषा किस से, किस जाति मे, और किस काल में, कौन नहीं समझ सकता? प्रेम का आचरण, उदारता का आचरण, दया का आचरण—क्या पशु और क्या मनुष्य—जगत् भर के सभी चराचर आप ही आप समझ लेते हैं। जगत् भर के बच्चों की भाषा इस भाष्य-हीन भाषा का चिह्न है। बालकों के इस शुद्ध मौन का नाद और हास्य भी सब देशों मे एक ही सा पाया जाता है।

एक दफे एक राजा जगल मे शिकार खेलते खेलते रास्ता भूल गया। उसके साथी पीछे रह गए। घोड़ा उसका मर गया। बदूक हाथ से रह गई। रात का समय आ पहुँचा। देश बर्फानी, रास्ते पहाड़ी। पानी बरस रहा है। रात अँधेरी है। ओले पड़ रहे हैं। ठडी हवा उसकी हड्डियों तक को हिला रहा है। प्रकृति ने, इस घड़ी, इस राजा को अनाथ बालक से अधिक बेसरोसामान कर दिया। इतने मे दूर एक पहाड़ी की चोटी के नीचे टिमटिमाती हुई बत्ती की लौ दिखाई दी। कई मील तक पहाड़ के ऊँचे-नीचे

उतार चढ़ाव को पार करने से थका हुआ, भूखा और सर्दी से ठिठुरा हुआ राजा उस बत्ती के पास पहुँचा। यह एक गरीब पहाड़ी किसान की कुटी थी। इसमें किसान, उसकी स्त्री और उनके दो तीन बच्चे रहते थे। किसान शिकारी राजा को अपनी झोपड़ी में ले गया। आग जलाई। उसके वस्त्र सुखाए। दो मोटी मोटी रोटियाँ और साग उसके आगे रखा। उसने खुद भी खाया और शिकारी को भी खिलाया। ऊन और रीछ के चमड़े के नरम और गरम बिछौने पर उसने शिकारी को सुलाया। आप बेबिछौने की भूमि पर सो रहा! धन्य है तू, हे मनुष्य! तू ईश्वर से क्या कम है! तू भी तो पवित्र और निष्काम रक्षा का कर्ता है। तू भी आपन्न जनों का आपत्ति से उद्धार करनेवाला है।

शिकारी कई रूसों का जार ही क्यों न हो, इस समय तो एक रोटी और गरम बिस्तर पर—अग्नि की एक चिनगारी और टूटी छत पर—उसकी सारी राजधानियाँ बिक गईं। अब यदि वह अपना सारा राज्य उस किसान को, उसकी अमूल्य रक्षा के मोल में, देना चाहे तो भी वह तुच्छ है; यदि वह अपना दिल ही देना चाहे तो भी यह तुच्छ है; अब उस निर्धन और निरक्षर पहाड़ी किसान की दया और उदारता के मर्म के मौन व्याख्यान को देखो। चाहे शिकारी को पता लगे चाहे न लगे, परंतु राजा के अंतस् के मौन जीवन में उसने ईश्वरीय औदार्य्य की कलम गाड़ दी। शिकार में अचा-

नक रास्ता भूल जाने के कारण जब इस राजा को ज्ञान का एक परमाणु मिल गया तब कौन कह सकता है कि शिकारी का जीवन अच्छा नहीं। क्या जगल के ऐसे जीवन में, इसी प्रकार के व्याख्यानों से, मनुष्य का जीवन, शनैः शनैः, नया रूप धारण नहीं करता ? जिसने शिकारी के जीवन के दुःखों को नहीं सहन किया उसको क्या पता कि ऐसे जीवन की तह मे किस प्रकार के और किस मिठास के आचरण का विकास होता है। इसी तरह क्या एक मनुष्य के जीवन में और क्या एक जाति के जीवन में—पवित्रता और अपवित्रता भी जीवन के आचरण को भली भाँति गढ़ती है—और उस पर भली भाँति कुदन करती है। जगाई और मधाई यदि पक्के लुटेरे न होते तो महाप्रभु चैतन्य के आचरण सबधी मौन व्याख्यान को ऐसी दृढ़ता से कैसे ग्रहण करते। नग्न नारी को स्नान करते देख सूरदासजी यदि कृष्णार्पण किए गए अपने हृदय को एक बार फिर उस नारी की सुंदरता निरखने में न लगाते और उस समय फिर एक बार अपवित्र न होते तो सूरसागर में प्रेम का वह मौन व्याख्यान—आचरण का वह उत्तम आदर्श—कैसे दिखाई देता ? कौन कह सकता है कि जीवन की पवित्रता और अपवित्रता के प्रतिद्वंद्वी भाव से संसार के आचरणों में एक अद्भुत पवित्रता का विकास नहीं होता ! यदि मेरी माड-लिन वेश्या न होती तो कौन उसे ईसा के पास ले जाता और ईसा के मौन व्याख्यान के प्रभाव से किस तरह आज वह

हमारी पूजनीया माता बनती ? कौन कह सकता है कि ध्रुव की सौतेली माता अपनी कठोरता से ही ध्रुव को अटल बनाने में वैसी ही सहायक नहीं हुई जैसी की स्वय ध्रुव की माता।

मनुष्य का जीवन इतना विशाल है कि उसके आचरण को रूप देने के लिये नाना प्रकार के ऊँच नीच और भले बुरे विचार, अमीरी और गरीबी, उन्नति और अवनति इत्यादि सहायता पहुँचाते हैं। पवित्र अपवित्रता उतनी ही बलवती है, जितनी की पवित्र पवित्रता। जो कुछ जगत् में हो रहा है वह केवल आचरण के विकास के अर्थ हो रहा है। अतरात्मा वही काम करती है जो बाह्य पदार्थों के संयोग का प्रतिबिंब होता है। जिनको हम पवित्रात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन किन कूपों से निकलकर वे अब उदय को प्राप्त हुए हैं ? जिनकों हम धर्मात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन किन अधर्मों को करके वे धर्मज्ञान को पा सके हैं ? जिनको हम सभ्य कहते है और जो अपने जीवन मे पवित्रता को ही सब कुछ समझते हैं, क्या पता है, वे कुछ काल पूर्व बुरी और अधर्मपूर्ण अपवित्रता मे लिप्त रहे हों ? अपने जन्मजन्मान्तरों के सस्कारों से भरी हुई अधकारमय कोठरी से निकलकर ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले हुए देश में जब तक अपना आचरण अपने नेत्र न खोल चुका हो तब तक धर्म के गूढ तत्व कैसे समझ में आ सकते हैं। नेत्ररहित को सूर्य से क्या लाभ ? हृदयरहित को प्रेम से क्या लाभ ?

बहरे को राग से क्या लाभ? कविता, साहित्य, पीर, पैगंबर, गुरु, आचार्य, ऋषि आदि के उपदेशों से लाभ उठाने का यदि आत्मा में बल नहीं तो उनसे क्या लाभ? जब तक जीवन का बीज पृथ्वी के मलमूत्र के ढेर में पड़ा है, अथवा जब तक वह खाद की गरमी से अंकुरित नहीं हुआ और प्रस्फुटित होकर उसमें दो नए पत्ते ऊपर नहीं निकल आए, तब तक ज्योति और वायु उसके किस काम के?

जगत् के अनेक संप्रदाय अनदेखी और अनजानी वस्तुओं का वर्णन करते हैं; पर अपने नेत्र तो अभी मायापटल से बंद हैं—और धर्मानुभव के लिये मायाजाल में उनका बंद होना आवश्यक भी है। इस कारण मैं उनके अर्थ कैसे जान सकता हूँ? वे भाव—वे आचरण—जो उन आचार्यों के हृदय में थे और जो उनके शब्दों के अंतर्गत मौनावस्था में पडे हुए हैं, उनके साथ मेरा संबंध, जब तक मेरा भी आचरण उसी प्रकार का न हो जाय तब तक, हो ही कैसे सकता है? ऋषि को तो मौन पदार्थ भी उपदेश दे सकते; टूटे फूटे शब्द भी अपना अर्थ भासित कर सकते हैं, तुच्छ से भी तुच्छ वस्तु उसकी आँखों में उसी महात्मा का चिह्न है जिसका चिह्न उत्तम पदार्थ हैं। राजा में फकीर छिपा है और फकीर में राजा। बडे से बडे पंडित में मूर्ख छिपा है और बडे से बडे मूर्ख में पंडित। वीर में कायर और कायर में वीर सोता है। पापी में महात्मा और महात्मा में पापी डूबा हुआ है।

वह आचरण, जो धर्मसम्प्रदायों के अनुच्चारित शब्दों को सुनता है, हममें कहाँ ? जब वही नहीं तब फिर क्यों न ये संप्रदाय हमारे मानसिक महाभारतों के कुरुक्षेत्र बनें ! क्यों न अप्रेम, अपवित्रता, हत्या और अत्याचार इन संप्रदायों के नाम से हमारा खून करें ? कोई भी धर्मसम्प्रदाय आचरण-रहित पुरुषों के लिये कल्याणकारक नहीं हो सकता और आचरणवाले पुरुषों के लिये सभी धर्मसंप्रदाय कल्याणकारक हैं। सच्चा साधु धर्म को गौरव देता है, धर्म किसी को गौरवान्वित नहीं करता।

आचरण का विकास जीवन का परमोद्देश है। आचरण के विकास के लिये नाना प्रकार की सामग्री का जो संसार-सभूत शारीरिक, प्राकृतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन में वर्तमान है, उन सबका—क्या एक पुरुष और क्या एक जाति के आचरण के विकास के साधनों के संबंध में विचार करना होगा। आचरण के विकास के लिये जितने कर्म हैं उन सबको आचरण को सघटित करनेवाले धर्म के अंग मानना पड़ेगा। चाहे कोई कितना ही बड़ा महात्मा क्यों न हो वह निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि यों ही करो, और किसी तरह नहीं। आचरण की सभ्यता की प्राप्ति के लिये वह सबको एक पथ नहीं बता सकता। आचरणशील महात्मा स्वयं भी किसी अन्य की बनाई हुई सड़क से नहीं आया; उसने अपनी सड़क स्वयं ही बनाई थी। इसी से उसके बनाए

हुए रास्ते पर चलकर हम भी अपने आचरण को आदर्श के ढाँचे मे नहीं ढाल सकते। हमें अपना रास्ता अपने ही जीवन की कुदाली क एकी चोट से रात-दिन बनाना पडेगा और उसी पर चलना भी पडेगा। हर किसी को अपने देश-कालानुसार रामप्राप्ति के लिये अपनी नैया आप ही चलानी पडेगी।

यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो ऐसे ज्ञान ही से क्या प्रयोजन ? जब तक मैं अपना हथौड़ा ठीक ठीक चलाता हूँ और रूपहीन लोहे को तलवार के रूप मे गढ़ देता हूँ तब तक यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो न होने दो। उस ज्ञान से मुझे प्रयोजन ही क्या ? जब तक मैं अपना उद्धार ठीक और शुद्ध रीति से किए जाता हूँ तब तक यदि मुझे आध्मात्मिक पवित्रता का भान नहीं तो न होने दो। उससे सिद्धि ही क्या हो सकती है ? जब तक किसी जहाज के कप्तान के हृदय मे इतनी वीरता भरी हुई है कि वह महाभयानक समय में भी अपने जहाज को नहीं छोड़ता तब तक यदि वह मेरी और तेरी दृष्टि मे शराबी और स्त्रैण है तो उसे वैसा होने दो। उसकी बुरी बातों से हमे प्रयाजन ही क्या ? आँधी हो—बरफ हो—बिजली की कड़क हो—समुद्र का तूफान हो—वह दिनरात आँख खोले अपने जहाज की रक्षा केलिये जहाज के पुल पर घूमता हुआ अपने धर्म का पालन करता है। वह अपने जहाज के साथ समुद्र मे डूब जाता है; परतु अपना जीवन

बचाने के लिये कोई उपाय नहीं करता। क्या उसके आचरण का यह अंश मेरेतेरे बिस्तर और आसन पर बैठे बिठाए कहे हुए निरर्थक शब्दों के भाव से कम महत्त्व का है?

न मैं किसी गिरजे में जाता हूँ और न किसी मंदिर में; न मैं नमाज पढ़ता हूँ और न रोजा ही रखता हूँ; न सध्या ही करता हूँ और न कोई देवपूजा ही करता हूँ; न किसी आचार्य के नाम का मुझे पता है और न किसी के आगे मैंने सिर ही झुकाया है। इन सबसे प्रयोजन ही क्या और हानि भी क्या? मैं तो अपनी खेती करता हूँ; अपने हल और बैलों को प्रातःकाल उठकर प्रणाम करता हूँ; मेरा जीवन जँगल के पेड़ों और पक्षियों की संगति मे बीतता है: आकाश के बादलों को देखते देखते मेरा दिन निकल जाता है। मैं किसी को धोखा नहीं देता; हाँ यदि, मुझे कोई धोखा दे तो उससे मेरी कोई हानि नहीं। मेरे खेत में अन्न उग रहा है; मेरा घर अन्न से भरा है; बिस्तर के लिये मुझे एक कमली काफी है, कमर के लिये एक लँगोटी और सिर के लिये एक टोपी बस है। हाथपाँव मेरे बलवान् हैं; शरीर मेरा नीरोग है; भूख खूब लगती है; बाजरा और मकई, छाछ और दहींदूध और मक्खन मुझे और मेरे बच्चों के लिये खाने को मिल जाता है। क्या इस किसान की सादगी और सचाई में वह मिठास नहीं जिसकी प्राप्ति के लिये भिन्न भिन्न धर्मसप्रदाय लँबीचौड़ी और चिकनीचुपड़ी बातों द्वारा दीक्षा दिया करते हैं?

जब साहित्य, संगीत और कला की अति ने रोम को घोड़े से उतारकर मखमल के गद्दों पर लिटा दिया—जब आलस्य और विषय विकार की लंपटता से जगल और पहाड़ की साफ हवा के असभ्य और उद्दड जीवन से रोमवालों का मुख मोड़ दिया तब रोम नरम तकियों और बिस्तरों पर ऐसा सोया कि अब तक न आप जागा और न कोई उसे जगा ही सका। ऐंग्लो-सैकसन जाति ने जो उच्च पद प्राप्त किया वह उसने अपने समुद्र, जगल और पर्वत से सबध रखनेवाले जीवन से ही प्राप्त किया। इस जाति की उन्नति लड़ने भिड़ने, मरने मारने, लूटने और लूटे जाने, शिकार करने और शिकार होनेवाले जीवन का ही परिणाम है। लोग कहते है कि केवल धर्म ही जाति को उन्नत करता है। यह ठीक है, परतु वह मकुर, जो जाति को उन्नत करता है, इस असभ्य, कमीने और पापमय जीवन की गदी राख के ढेर के ऊपर नहीं उगता है। मंदिरों और गिरजों की मद मंद टिमटिमाती हुई मोमबत्तियों की रोशनी से यूरोप इस उच्चावस्था को नहीं पहुँचा। वह कठोर जीवन, जिसको देशदेशातरों को ढूँढते फिरते रहने के बिना शाति नहीं मिलती, जिसकी अतर्ज्वाला दूसरी जातियों को जीतने, लूटने, मारने और उन पर राज करने के बिना मंद नहीं पड़ती—केवल वही विशाल जीवन समुद्र की छाती पर मूँग दलकर और पहाड़ों को फाँदकर उनको उस महत्ता की ओर ले गया और ले जा रहा है। राबिन हुड की प्रशसा में इगलैंड के

जो कवि अपनी सारी शक्ति खर्च कर देते हैं उन्हें तत्वदर्शी कहना चाहिए; क्योंकि राबिन हुड जैसे भौतिक पदार्थो से ही नेलसन और वेलिंगटन जैसे अंगरेज वीरों की हड्डियाँ तैयार हुई थीं। लड़ाई के आजकल के सामान—गोले, बारूद, जंगी जहाज और तिजारती बेड़ों आदि—को देखकर कहना पड़ता है कि इनसे वर्तमान सभ्यता से भी कहीं अधिक उच्च सभ्यता का जन्म होगा।

यदि यूरोप के समुद्रों मे जंगी जहाज मक्खियों की तरह न फैल जाते और यूरोप का घर घर सोने और हीरे से न भर जाता तो वहाँ पदार्थविद्या के सच्चे आचार्य और ऋषि कभी न उत्पन्न होते। पश्चिमीय ज्ञान से मनुष्यमात्र को लाभ हुआ है। ज्ञान का वह सेहरा—बाहरी सभ्यता की अंतर्वर्तिनी आध्यात्मिक सभ्यता का वह मुकुट—जो आज मनुष्यजाति ने पहन रखा है यूरोप को कदापि न प्राप्त होता, यदि धन और तेज को एकत्र करने के लिये यूरोपनिवासी इतने कमीने न बनते। यदि सारे पूर्वी जगत् ने इस महत्ता के लिये अपनी शक्ति से अधिक भी चंदा देकर सहायता की तो बिगड़ क्या गया? एक तरफ जहाँ यूरोप के जीवन का एक अंश असभ्य प्रतीत होता है—कमीना और कायरता से भरा हुआ मालूम होता है—वहीं दूसरी ओर यूरोप के जीवन का वह भाग, जिसमें विद्या और ज्ञान के ऋषियों का सूर्य्य चमक रहा है, इतना महान् है कि थोड़े ही समय मे पहले अंश को मनुष्य अवश्य ही भूल जायँगे।

धर्म और आध्यात्मिक विद्या के पौधे को ऐसी आरोग्य-वर्धक भूमि देने के लिये, जिससे वह प्रकाश और वायु मे खिलता रहे, सदा फूलता रहे, सदा फलता रहे, यह आवश्यक है कि बहुत से हाथ एक अनंत प्रकृति के ढेर को एकत्र करते रहें। धर्म की रक्षा के लिये क्षत्रियों को सदा ही कमर बाँधे हुए सिपाही बने रहने का भी तो यही अर्थ है। यदि कुल समुद्र का जल उडा दें तो रेडियम धातु का एक कण कहीं हाथ लगेगा। आचरण का रेडियम—क्या एक पुरुष का और क्या जाति का, और क्या एक जगत् का—सारी प्रकृति को खाद बनाए बिना—सारी प्रकृति को हवा मे उड़ाए बिना भला कब मिलने का है? प्रकृति को मिथ्या करके नहीं उड़ाना; उसे उड़ाकर मिथ्या करना है। समुद्रों में डोरा डाल-कर अमृत निकाला है। सो भी कितना? जरा सा! संसार की खाक छानकर आचरण का स्वर्ण हाथ आता है। क्या बैठे बिठाए भी वह मिल सकता है?

हिंदुओं का संबंध यदि किसी प्राचीन असभ्य जाति के साथ रहा होता तो उनके वर्तमान वंश में अधिक बलवान् श्रेणी के मनुष्य होते—तो उनके भी ऋषि, पराक्रमी, जनरल और धीरवीर पुरुष उत्पन्न होते। आजकल तो वे उपनिषदों के ऋषियों के पवित्रतामय प्रेम के जीवन को देख देखकर अहंकार में मग्न हो रहे हैं और दिन पर दिन अधोगति की ओर जा रहे हैं। यदि वे किसी जंगली जाति की संतान होते

तो उनमें भी ऋषि और बलवान् योद्धा होते। ऋषियों को पैदा करने के योग्य असभ्य पृथ्वी का बन जाना तो आसान है; परंतु ऋषियों को अपनी उन्नति के लिये राख और पृथ्वी बनाना कठिन है; क्योंकि ऋषि तो केवल अनंत प्रकृति पर सजते है, हमारी जैसी पुष्पशय्या पर मुरझा जाते हैं। माना कि प्राचीन काल मे, यूरोप मे, सभी असभ्य थे; परतु आज-कल तो हम असभ्य हैं। उनकी असभ्यता के ऊपर ऋषि-जीवन की उच्च सभ्यता फूल रही है और हमारे ऋषियों के जीवन के फूल की शय्या पर आजकल असभ्यता का रग चढ़ा हुआ है। सदा ऋषि पैदा करते रहना, अर्थात् अपनी ऊँची चोटी के ऊपर इन फूलों का सदा धारण करते रहना ही जीवन के नियमों का पालन करना है।

तारागणों को देखते देखते भारतवर्ष अब समुद्र में गिरा कि गिरा। एक कदम और, और धड़ाम से नीचे! कारण इसका केवल यही है कि यह अपने अटूट स्वप्न में देखता रहा है और निश्चय करता रहा है कि मैं रोटी के बिना जी सकता हूँ, हवा मे पद्मासन जमा सकता हूँ; पृथ्वी से अपना आसन उठा सकता हूँ, योगसिद्धि द्वारा सूर्य्य और तारात्रों के गूढ़ भेदों को जान सकता हूँ; समुद्र की लहरों पर बेखटके सो सकता हूँ। यह इसी प्रकार के स्वप्न देखता रहा; परतु अब तक न संसार ही की और न राम ही की दृष्टि मे ऐसी एक भी बात सत्य सिद्ध हुई। यदि अब भी इसकी निद्रा न खुली

तो बेधड़क शंख फूँक दो! कूच का घड़ियाल बजा दो! कह दो, भारतवासियों का इस असार संसार से कूच हुआ।

लेखक का तात्पर्य केवल यह है कि आचरण केवल मन के स्वप्नों से ही कभी नहीं बना करता। उसका सिर तो शिलाओं के ऊपर घिस घिसकर बनता है, उसके फूल तो सूर्य्य की गरमी और समुद्र के नमकीन पानी से बारबार भींगकर और सूखकर अपनी लाली पकड़ते हैं।

हजारों साल से धर्म-पुस्तकें खुली हुई हैं। अभी तक उनसे तुम्हें कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ। तो फिर अपने हठ में क्यों मर रहे हो? अपनी अपनी स्थिति को क्यों नहीं देखते? अपनी अपनी कुदाली हाथ में लेकर क्यों आगे नहीं बढ़ते? पीछे मुड़कर देखने से क्या लाभ? अब तो खुले जगत में अपने अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा छोड़ दो। तुममे से हर एक को अपना अश्वमेध करना है। चलो तो सही। अपने आपकी परीक्षा करो।

धर्म के आचरण की प्राप्ति यदि ऊपरी आडबरों से होती तो आजकल भारतनिवासी सूर्य्य के समान शुद्ध आचरणवाले हो जाते। भाई! माला से तो जप नहीं होता। गंगा नहाने से तो तप नहीं होता। पहाड़ों पर चढ़ने से प्राणायाम हुआ करता है, समुद्र में तैरने से नेती धुलती है; आँधी, पानी और साधारण जीवन के ऊँचनीच, गरमीसरदी, गरीबीअमीरी के झेलने से तप हुआ करता है। आध्यात्मिक धर्म के स्वप्नों

की शोभा तभी भली लगती है जब आदमी अपने जीवन का धर्म पालन करे। खुले समुद्र में अपने जहाज पर बैठकर ही समुद्र की आध्यात्मिक शोभा का विचार होता है। भूखे को तो चंद्र और सूर्य भी केवल आटे की बड़ी बड़ी दो रोटियों से प्रतीत होते हैं। कुटिया में बैठकर ही धूप, आँधी और बर्फ की दिव्य शोभा का आनद आ सकता है। प्राकृतिक सभ्यता के आने ही पर मानसिक सभ्यता आती है और तभी स्थिर भी रह सकती है। मानसिक सभ्यता के होने पर ही आचरणसभ्यता की प्राप्ति सभव है, और तभी वह स्थिर भी हो सकती है। जब तक निर्धन पुरुष पाप से अपना पेट भरता है तब तक धनवान् पुरुष के शुद्धाचरण भी पूरी परीक्षा नहीं। इसी प्रकार जब तक अज्ञानी का आचरण अशुद्ध है, तब तक ज्ञानवान् के आचरण की पूरी परीक्षा नहीं—तब तक जगत् में, आचरण की सभ्यता का राज्य नहीं।

आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमे न शारीरिक झगडे है, न मानसिक, न आध्यात्मिक। न उसमें विद्रोह है, न जग ही का नामोनिशान है और न वहाँ कोई ऊँचा है, न नीचा। न कोई वहाँ धनवान् है और न कोई वहाँ निर्धन। वहाँ तो प्रेम और एकता का अखड राज्य रहता है।

जिस समय बुद्धदेव ने स्वय अपने हाथों से हाफिज शीराजी का सीना उलटकर उसे मौनआचरण का दर्शन कराया उस समय फारस में सारे बौद्धों को निर्वाण के दर्शन

हुए और सब के सब आचरण की सभ्यता के देश को प्राप्त हो गए।

जब पैगंबर मुहम्मद ने ब्राह्मण को चीरा और उसके मौन आचरण को नंगा किया तब सारे मुसलमानों को आश्चर्य हुआ कि काफिर में मोमिन किस प्रकार गुप्त था! जब शिव ने अपने हाथ से ईसा के शब्दों को परे फेंककर उसकी आत्मा के नंगे दर्शन कराए तब हिंदू चकित हो गए कि वह नग्न करने अथवा नग्न होनेवाला उनका कौन सा शिव था। हम तो एक दूसरे में छिपे हुए हैं। हर एक पदार्थ को परमाणुओं में परि-णत करके उसके प्रत्येक परमाणु में अपने आपको ढूँढना—अपने आपको एकत्र करना—अपने आचरण को प्राप्त करना है। आचरण की प्राप्ति एकता की दशा की प्राप्ति है। चाहे फूलों की शय्या हो चाहे काँटों की; चाहे निर्धन हो चाहे धनवान्; चाहे राजा हो चाहे किसान; चाहे रोगी हो चाहे नीरोग—हृदय इतना विशाल हो जाता है कि उसमें सारा संसार बिस्तर लगाकर आनंद से आराम कर सकता है; जीवन आकाशवत् हो जाता है और नाना रूप और रंग अपनी अपनी शोभा में बेखटके निर्भय होकर स्थित रह सकते हैं। आच-रणवाले नयनों का मौन व्याख्यान केवल यह है—"सब कुछ अच्छा है, सब कुछ भला है।" जिस समय आचरण की सभ्यता संसार में आती है उस समय नीले आकाश से मनुष्य को वेदध्वनि सुनाई देती है, नरनारी पुष्पवत् खिलते जाते हैं;

प्रभात हो जाता है, प्रभात का गरज बज जाता है, नारद की वीणा अलापने लगती है, ध्रुव का शंख गूँज उठता है; प्रह्लाद का नृत्य होता है, शिव का डमरू बजता है, कृष्ण की बाँसुरी की धुन प्रारम्भ से हो जाती है। जहाँ ऐसे शब्द होते हैं, जहाँ ऐसे पुष्प रहते हैं, जहाँ ऐसी ज्योति होती है, वहीं आचरण की सभ्यता का सुनहरा देश है। वही देश मनुष्य का स्वदेश है। जब तक घर न पहुँच जायँ, सोना अच्छा नहीं, चाहे वेदों में, चाहे इंजील में, चाहे कुरान में, चाहे त्रिपिटक मे, चाहे इस स्थान में, चाहे उस स्थान में, कहीं भी सोना अच्छा नहीं। आलस्य मृत्यु है। लेख तो पेड़ों के चित्र सदृश होते है, पेड़ तो होते ही नहीं जो फल लावें। लेखक ने यह चित्र इसलिये अंकित किया है कि इस चित्र को देखकर शायद कोई असली पेड़ को जाकर देखने का यत्न करे।